

अनुप्रेक्षा प्रवचन

षष्ठ भाग

जीवो अणंत-कालं बसइ णिगोएसु आइ-परिहीणो।

तत्तो णिस्सरिट्ठणं पुढवी-कायादिओ होदि ॥ २८४ ॥

बोधिलाभकी दुर्लभता बतानेके प्रकरणमें जीवकी आद्य अवस्थाका वर्णन [बोधि दुर्लभ भावनामें यह बताया जाएगा कि जीवकी स्थिति कौनसी बहुत कठिनाईसे प्राप्त होती है? यह बतानेके लिए जीवोंकी सर्वप्रथम स्थिति बतला रहे हैं। यह जीव अनादिकालसे निगोदमें बस रहा है, कितना काल व्यतीत हो गया? अनन्तकाल, क्योंकि कालकी कुछ आदि ही नहीं। कल्पना में यदि ऐसा लाया जाये कि अमुक दिनसे काल शुरू हुआ है तो क्या चित्त गवाही दे देगा कि इस दिनसे पहिले समय न था? तो समयकी आदि नहीं होती, अतएव काल अनादि है, और इस जीवका निगोदमें बसना भी अनादिसे ही है। निगोद नाम है एक प्रकारके शरीर का। जिसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है नियतां जांददाति इति निगोदं याने जो शरीर अन्य जीवोंका नियत क्षेत्र दे देवे उसे निगोद कहते हैं। तो निगोद जीवोंका शरीर इस प्रकारका होता है कि वहाँ अनन्त निगोद समा जायें और वे अंगुलके असंख्यात भागमें रहते हैं, ऐसा निगोद शरीर जिनका होता है उनको निगोद जीव कहते हैं। निगोद एकेन्द्रिय जीव होते हैं और वनस्पतिके भेदमेंसे है। ये हरी वनस्पति तो नहीं है निगोद पर साधारण वनस्पति जो भेद किया है वनस्पतिका उसे कहते हैं निगोद। तो यह जीव अनन्तकाल निगोदमें बसा।

प्राकरणिक अपना चिन्तन [ये सब बातें अपने आपपर घटित करके सुनना है, समझना है कि हम कैसी कठिन खराब कुयोनियोंसे निकलकर आज इस श्रेष्ठ नरजन्ममें आये हैं और नरजन्ममें आकर यदि यहाँ भी विषयप्रेम कषायवासनाकी संज्ञाओंसे इस जीवनको गंवा दिया तो हम आपके लिए कितने खेदकी बात है? इस जीवका मूल ऐब यही है कि जिस पर्यायमें यह पहुंचता है उसको ही आत्मरूपसे स्वीकार कर लेता है। कषाय बढ़नेमें और कारण क्या है? जिस शरीरमें बसा उसीको ही मान लिया कि यह ही मैं हूँ। किसीने निन्दा की, गाली दे दी तो इसने मुझे यों कहा ऐसा सोचकर दुःखी होता है। अरे इसे निजका कुछ पता ही नहीं है। जो ये नाक, आँख, कान आदिक इन्द्रिय वाला शरीर है इसीको समझ लिया कि यह मैं हूँ। इसने मुझको कहा। पोजीशन आदिकी जो चाह है, प्रतिष्ठाके प्रति भीतरमें जो लगाव है यह इस नरजन्मको बरबाद कर देने वाला है। तो इस जीवने जिस भवमें जन्म लिया उसमें ही मोह किया। आज मनुष्यभवमें हैं तो यहाँ भी मोह कर रहे। तो बताओ यह बात कहाँ तक युक्त है? जिस घरमें मोह किया जा रहा, जिन परिजनोंसे मोह किया जा रहा उनसे मोह करना ही चाहिए ऐसी कोई युक्ति है क्या? कुछ भी तो हेतु नहीं है। आज ये जीव जो आपके घरमें आकर बसे हैं, बजाये इनके यदि और कोई दूसरे जीव आपके घरमें आ जाते तो उनसे मोह करने लगते। तो इस जीवकी मोह करनेकी आदत पड़ी है। एक जीवका किसी दूसरे जीवसे कुछ नाता तो नहीं है, फिर भी ऐसा मोह पड़ा है कि बस ये ही घरके लोग मेरे सब कुछ हैं, इन्हींके पीछे मेरा सारा जीवन है। बाकी तो सब गैर लोग हैं।

जब इस जीवको मोह करनेकी आदत पड़ी है तो फिर इसे अपनी ज्ञाननिधिकी सुध हो कहाँसे? इसे तो ये

बाह्यपदार्थ ही रम्य प्रतीत हो रहे हैं। यह कितनी बड़ी इस जीवकी गलती है? लोग दोष देते हैं दूसरोपर कि हम बड़े बुरे फंसे हैं, हमारी कच्ची गृहस्थी है। अभी ठीक ढंग नहीं है....। अरे ठीक ढंग कब होगा? अपनेसे गरीबोंपर दृष्टि डालकर देख लो जब उनके सभी ढंग बन रहे हैं, वे भी जब जीवित हैं तो फिर आपके सभी साधन क्यों न बनेंगे? आपकी तो उनसे हजार गुना अधिक अच्छी स्थिति है। और ढंग क्या बनाओगे? किस जगह बनाओगे? इस तरह बाह्यकी ओर दृष्टि रखकर कि मैं इनका सुधार कर दूँ, तब निश्चित होकर अपना जीव धर्मसाधनामें लगाऊँगा, ऐसी जो बात सोचते हैं उनका ढंग कभी बननेका नहीं है, क्योंकि वे तृष्णाके पथपर चल रहे हैं। जितना जितना ढंग बनाते जायेंगे उतना उतना ही वे ढंग और बिगड़ते जायेंगे। सुधार होगा संतोषवृत्तिसे, विज्ञानसे, आत्महितकी लगनसे। एक गुप्त ही गुप्त अपने आपमें अपनी दृष्टि करके अपना कल्याण करते जावो। यहाँ कौन किसका है? किसे क्या दिखाना है? ऐसा भीतरमें संतोष भाव करके अन्तर्दृष्टि करें तो ढंग बन पायेगा अन्यथा याने बाह्यपदार्थोंमें दृष्टि रख-रखकर ढंग न बन पायेगा।

निगोद जीवोंका विवरण—यहाँ बतला रहे हैं कि प्रारम्भमें इस जीवकी क्या हालत थी? प्रारम्भमें मायने अनादि। यह निगोद। निगोदमें क्या बात बीतती है? तो शास्त्रोंमें स्पष्ट इसका कथन किया गया है। एक श्वासमें १८ बार जन्म-मरण करना पड़ता है। श्वासके मायने नाड़ीके एक बार उचकनेमें जितना समय लगे उतनेका नाम एक श्वास है। यहाँ मुखके श्वासका नाम श्वास नहीं है। तो यों समझिये कि एक सेकेण्डमें करीब २३ बार जन्म-मरण होता है। यह बात शास्त्रोंमें कही है। हम उस तरह इसे आँखों तो नहीं देख सकते जैसे पशु-पक्षियोंके दुःखोंको देख रहे हैं, लेकिन यह बात असत्य यों नहीं है कि जिन ऋषि-संतोंने मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वोंका वर्णन किया है, जिनका ध्येय विशुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टिका रहा है, जिनका ध्यान वीतरागताकी ओर अग्रसर होते रहनेका रहा है, जो अवधिज्ञानी व मनःपर्ययज्ञानी भी थे, जिन्होंने केवली भगवान न श्रुतकेवलीकी निकटता भी प्राप्त की थी, वे भला असत्य वचन कैसे कह सकेंगे? जिन तत्त्वोंमें हमारी युक्तिसे गति हो सकती है उनके वर्णित स्वरूपमें जब हम वहाँ निर्बाधता पाते हैं और अनुभवसे हम उसे सत्य करार कर लेते हैं तो जो परोक्ष बात है उसकी सत्यतामें क्या सदेह? देखिये निकृष्टसे निकृष्ट जीव यहाँ जो दिखते हैं उनसे भी निकृष्ट जीव हैं, और सबसे निकृष्ट ये निगोद जीव हैं। एकेन्द्रिय जीवके ५ भेद कहे गए हैं पृथ्वीकाय, जलकाय, और वनस्पतिकाय। वनस्पतिके दो भेद कहे गए हैं प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति। जो साधारण वनस्पतिका नाम निगोद है। यह एक ऐसा ही निगोद शरीर है कि एक जीव मरे तो सब मरे, एक जीव जन्म ले तो सब जन्म लें। जिनका आहरण एक समान है, जिनका श्वास एक समान है, जन्म और मृत्यु भी सबकी एक साथ है, क्योंकि एक शरीरका आधार है, और उस एक औदारिक शरीरमें ये सब भिन्न-भिन्न जीव अपने भिन्न-भिन्न सूक्ष्म शरीरमें रहते हुए दुःख पाया करते हैं।

साधारण वनस्पतिका परिचय—जो कुछ वनस्पति दिखनेमें आ रही हैं वे सब प्रत्येकवनस्पति हैं। जो भक्ष्य हैं वे भी प्रत्येक वनस्पति हैं। और जिन्हें अभक्ष्य कहा है आलू, कंद आदिक, वे भी प्रत्येकवनस्पति हैं। साधारण वनस्पति तो आँखों दिख नहीं सकते। सो कंदआदिक भी प्रत्येकवनस्पति हैं, परन्तु साधारण वनस्पति सहित प्रत्येकवनस्पति कहलाते हैं। जिनका नाम है सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति। उन्हें साधारण वनस्पति शब्दसे लोग कह देते हैं, पर शुद्ध नाम उनका आलू आदिक कंदोका साधारण वनस्पति नहीं है। सप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति है। साधारण वनस्पति तो केवल निगोदको कहते हैं। ये दो प्रकारके होते हैं निराधार और साधार। वनस्पतिकाय,

दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय आदिक औदारिक शरीर जहाँ रह सकते हैं उनके आधारमें निगोद जीव हैं और इन शरीरके बिना ये सर्वत्र निगोद जीव बसे हैं। जहाँ हम आप पोल समझते हैं वहाँ भी अनन्त निगोदिया जीव भरे पड़े हैं। ये निराधार कहलाते हैं। और, आलू वगैरहमें जो निगोद हैं वे साधार कहलाते हैं। तो ऐसे सूक्ष्म और वादर निगोदसे यह सारा जगत व्याप्त है, और ये निगोद अनादि कालसे चले आये हैं। जिन्होंने अभी तक निगोद पर्याय नहीं छोड़ा है ऐसे अनन्त जीव हैं, उन्हें कहते हैं नित्यनिगोद। और, जिन्होंने निगोदपर्याय छोड़ दी थी, यहाँ व्यवहार रीतिमें आ गए थे, पृथ्वी आदिक एकेन्द्रिय हो गए, अथवा दोइन्द्रिय हो गए, मनुष्य, देव आदिक हो गए और फिर भी निगोदमें पहुँचे तो उनको कहते हैं इतरनिगोद।

असावधानीका फल—अब अपनी-अपनी बात सोचिये यह जीव निगोदसे निकल आया कि नहीं? अपने आपकी बात सोचो यह तो स्पष्ट है कि हम आप निगोदसे निकल आये और उससे भी आगे दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय आदिकको भी उल्लंघन करके हम पञ्चेन्द्रिय हुए, लेकिन यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि अब यदि नहीं चेतते हैं और अटपट ही रहते हैं, व्यर्थका मोह लगा है, उससे ही मोह बना हुआ है तो वही निगोद दशा फिर होनेको है। थोड़े बहुत अन्य अन्य भवोंमें जायेंगे, पर जहाँ सावधानी नहीं है वहाँ यही निर्णय है कि आखिर निगोद होना पड़ेगा। असावधानीके मायने हैं कि विषयोंका प्रेम, कषायोंकी वासना, परका उपयोग, अपने आपकी सुध न रहे ऐसी रहे बेहोशी तो ऐसे वातावरणमें जो जीवन गुजरता है वह असावधानी है। एक कथानक है कि एक साधु महाराजके पास एक चूहा रहता था, उस चूहेपर एक दिन बिल्ली झपटी, चूहा बिल्लीसे भयभीत हो गया, तो साधुने चूहेको आशीर्वाद दे दिया बिडालो भव अर्थात् तू भी बिल्ली बन जा। लो चूहा बिल्ली बन गया। एक बार उस बिल्ली पर झपटा कुत्ता तो बिल्ली भयभीत हो गयी। साधुने पुनः उस बिल्लीको आशीर्वाद दिया कि श्वाभव अर्थात् तू भी कुत्ता बन जा। बिल्ली कुत्ता बन गयी। उस कुत्ते पर एक दिन झपटा व्याघ्र। कुत्ता भयभीत हो गया तो साधुने आशीर्वाद दिया व्याघ्रो भव अर्थात् तू भी व्याघ्र बन जा। वह कुत्ता व्याघ्र बन गया। एक दिन उस व्याघ्र पर झपटा सिंह, व्याघ्र भयभीत हो गया तो साधुने आशीर्वाद दिया सिंहो भव अर्थात् तू भी सिंह बन जा। अब देखिये वह चूहा सिंह बन गया। अब उस सिंहको लगी भूख। पासमें कुछ खानेको तो था नहीं, सो सोचा कि इन्हीं साधु महाराजको खाकर अपनी भूख मिटाना चाहिए। जब साधुने सिंहके मनकी बातको पहिचान लिया तो कहा पुनः मूषको भव अर्थात् तू फिर चूहा बन जा। अरे जिसके आशीर्वादसे वह चूहा सिंह बना उसीपर वह आक्रमण करने लगे तो उसका फल यह तो होगा ही कि पुनः चूहा बनेगा। तो ऐसे ही यहाँ देखिये जिस आत्मदेवकी निर्मलताके प्रसादसे यह जीव कुयोनियोंसे उठकर पञ्चेन्द्रिय हुआ, मनुष्य हुआ, इतना श्रेष्ठ भव पाया, अब यहाँ ही उस आत्मदेवपर हमला बोला जाये, विषयोंका प्रेम, कषायोंकी वासना आदि यह अपने भगवानपर हमला करना ही तो है। तो यहाँ यह आशीर्वाद मिलेगा कि पुनः निगोद भव, याने फिरसे निगोद हो जा।

निगोद जीवोंकी दशा व गणना—निगोद जीव सर्वजीवोंसे निकृष्ट दशा वाला जीव है। जैसे बताते हैं ना, कि एक आलूके जरासे टुकड़ेमें कितने ही निगोद जीव बसे हुए हैं। कंदके खानेसे उन अनन्त स्थावर जीवोंका घात हो जाता है। वे तो साधार हैं, पर निराधार निगोदिया जीव कितने ही भरे पड़े हैं, जो बताया गया है कि सिद्ध जीवोंमें अनन्त गुने संसारी जीव हैं, इस वचनकी रक्षा ये निगोदिया जीव कर रहे हैं। नहीं तो निगोदको छोड़कर बाकी सब प्रकारके संसारी जीव सिद्धोंसे कम हैं। (ये निगोद भी काम आ रहे हैं जिनागमके वचनोंकी बात निभानेमें (हँसी) तो यह जीव अनन्तकाल तक निगोदमें बसा और वहाँसे निकला तो पृथ्वीकायादिक हुआ। अब

यहाँ ६ भेद समझ लीजिए एकेन्द्रिकके, पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, प्रत्यके वनस्पतिकाय और साधारण वनस्पतिकाय। तो जीव अनादिसे साधारण वनस्पतिमें रहा, वहाँसे निकला तो इन ५ प्रकारके स्थावरोंमें जन्म लिया। प्रत्येकवनस्पति हुआ तो निगोदसे निकला हुआ ही समझिये। पृथ्वी आदिक हुआ तो निगोदसे निकलकर हुआ। यों इस जीवने निगोदमें अनन्त काल व्यतीत किया। भक्ष्य अभक्ष्यके विवेककी पद्धति यों है कि त्रस जीवका जहाँ घात होता हो उस अभक्ष्यका त्याग होना अत्यन्त आवश्यक है। और, फिर जहाँ अनन्त स्थावर जीवोंका घात होता हो ऐसे पदार्थोंका त्याग हो। इन निगादोंमें मांस तो नहीं है मगर संख्या तो अनन्त है एक कंदके घातमें अनन्त निगोद जीवोंका घात होता है।

निगोद जीवकी आयु व निगोदमें बने रहनेका काल—ऐसे निगोद जीवोंमें अनन्तकाल तक यह जीव रहता आया है सो यह सामान्य वचन कहा। कहीं ऐसा अर्थ न लगा लेना कि निगोदिया जीवोंकी आयु अनन्तकालकी होती है। इतर निगोद भी अधिकसे अधिक ढाई पुद्गल परिवर्तन तक रहते हैं तो उनकी भी इतनी आयु नहीं है। आयु तो निगोद जीवोंकी एक श्वासके १८वें भाग प्रमाण है। इतनी स्वल्प आयु है। वे निगोद निगोदमें रहकर अनन्तकाल बिता देते हैं। बहुतसे निगोदिया जीव तो ऐसे हैं जो कभी निगोदका वास छोड़ते ही नहीं। ऐसे जीव नित्यनिगोद कहलाते हैं। तो इतना निर्णय तो हम आपको कर ही लेना चाहिए कि हम नित्य निगोद नहीं हैं, इतर निगोद भी नहीं हैं। पर सवाधानी न रखेंगे तो इतर निगोद हो सकेंगे। ऐसे निगोदसे निकलकर यह जीव पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और प्रत्येक वनस्पतिकायिक आदिक हुआ। इन ५ स्थावरोंमें भी विशेष पापी जीव माने गए अग्निकायिक और वायुकायिक जीव। दूसरे गुणस्थानमें मरण होने पर, पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वनस्पतिकायिकमें तो उत्पन्न हो जाये, पर अग्निकायिक और वायुकायिकमें उत्पत्ति नहीं है; अर्थात् अपर्याप्त अग्नि और वायुमें दूसरा गुणस्थान न होगा। पर्याप्तमें तो किसी भी एकेन्द्रिकके दूसरा गुणस्थान नहीं है। ऐसे इन ५ प्रकारके स्थावरोंमें यह जीव बहुत काल तक रहा। पृथ्वी आदिकमें भी असंख्याते काल तक रहता है। अब यह जीव कदाचित् वहाँसे निकला तो किस-किस तरहसे निकलनेकी बात होती है, सो बताते हैं।

तथ वि असंख कालं बायर-सुहुमेसु कुण्ड परियत्तं।

चिन्तामणि व्व दुलहं तसतणं लहदि कट्टेण ॥ २८५ ॥

त्रस पर्याय पानेकी दुर्लभता—निगोदमें अनन्तकाल यह जीव रहा। वहाँसे निकलकर पृथ्वीकाय आदिकमें असंख्याते काल तक रहा, और वहाँसे निकलकर त्रस हो जाये तो यों समझिये कि चिन्तामणि रत्न पानेकी तरह दुर्लभ बात पा ली। जैसे खुली जगहमें चौहट्टेमें जहाँसे बहुतसे लोगोंका आना जाना बना रहता है वहाँ पर खोया हुआ चिन्तामणि रत्न मिलना अति दुर्लभ है, अथवा समुद्रमें फिका हुआ चिन्तामणि रत्न मिलना दुर्लभ है इसी प्रकार त्रस पर्यायका पाना दुर्लभ है, इसी प्रकार त्रस पर्यायका पाना दुर्लभ है। अपनी बात संभालनेका ध्यान रहे तो संभाल होता है और दूसरोंकी संभालके लिए जो यत्न रखे, उपदेश देकर, ज्ञान देकर, अन्य उपायोंसे दूसरोंके उपकारकी बात चिन्तमें रखे तो दूसरोंका उपकार हो गया क्या, यह भी नहीं कहा जा सकता और खुदका तो कुछ कहना ही नहीं। १० आदमी अगर खुद खुदकी संभालमें लगे तो वे सब संभल जायेंगे। और, वे दसों व्यक्ति अगर दूसरोंकी संभालमें लगे तो वे न संभलेंगे। अपनी बात देखना है कि किस-किस तरहसे जन्म-मरण करते हुए कैसी-कैसी कुयोनियोंको पार करके आज इस श्रेष्ठ जैनशासनमें हम आये हुए हैं। यहाँ आकर क्या मोह करना? अपना कर्त्तव्य है? मोह कहते हैं बेहोशीको। मोह कहो, मुग्धता कहो, मूढ़ता कहो, बेहोशी कहो एक ही बात है।

जैसे मदिरापान करके होता क्या है? बेहोशी, न रहे यह स्थिति हो सकती है, पर मोहमें बेहोशी रहती ही है। अपने आपकी सुध न होना यही है बेहोशी। तो यों जीव निगोदमें अनन्तकाल व अन्य स्थावरोंमें असंख्य काल भ्रमण करके बड़ी कठिनाईसे त्रस पर्यायको प्राप्त हुआ।

वियलिंदियेसु जायेदि तथवि अच्छेदि पुव्वकोडीओ।

तत्तो णिस्सरिदूणं कहमवि पंचिदिओ होदि ॥ २८६ ॥

दुर्लभतासे एकेन्द्रियसे निकलकर विकलेन्द्रिय व पञ्चेन्द्रियमें जन्मलाभ—यह जीव अनन्तकाल तक निगोदमें रहा था, वहाँसे निकला तो असंख्यातकाल तक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पतिमें रहा। वहाँसे बड़ी दुर्लभतासे है इसने निकलकर त्रसपर्याय प्राप्त की। सो त्रसमें दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय आदिक जीव हुआ। इन्हें विकलेन्द्रिय कहते हैं, विकल मायने अधूरी। ऐसी अधूरी इन्द्रिय वाले तो एकेन्द्रिय भी हैं लेकिन एकेन्द्रियको यहाँ ग्रहण न करना। एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, सकलेन्द्रिय यों तीन भेद किये गये हैं। सो एकेन्द्रियसे ऊपर जितने भी ऐसे हैं कि जिनके पाँचों इन्द्रियाँ नहीं हैं उन्हें विकलेन्द्रिय कहते हैं। इसी जीवके जब रसनेन्द्रियावरणका क्षयोपशम हुआ, वीर्यान्तरायका क्षयोपशम हुआ, अङ्गोपाङ्गका उदय आया, ऐसा जीव दो इन्द्रियमें जन्म लेता है। दोइन्द्रिय जीवके रसनाइन्द्रिय हो जानेसे ज्ञानमें कितना अन्तर आ गया। एकइन्द्रियका ज्ञान और रसनाइन्द्रियका ज्ञान। इसके व्यावहारिक रूपमें कुछ समझ आयी, स्वादकी समझ आयी। पहिले उस जीवमें स्वाद लेनेकी कोई बात न थी। आहार बिना कोई जीवित नहीं रहता, आहार तो एकेन्द्रिय जीवके भी रहा किन्तु उसका अपने ढंगसे रहा। जैसे पेड़में खाद दिया, पानी दिया तो जड़ोंसे उसने आहार ग्रहण किया। यहाँ दोइन्द्रिय होनेपर यह मुख द्वारा आहार ग्रहण करने लगता है तो बनावटसे देखें, उसकी व्यावहारिकतासे देखें, भीतरके ज्ञानसे देखें तो एकेन्द्रियसे दोइन्द्रियमें विशेषता पायी जाती है। दोइन्द्रिय जीवके बाद यह तीनइन्द्रिय हुआ। वहाँ नासिका इन्द्रिय और प्राप्त हो गयी। अब तो वह जीव गंधका भी ज्ञान करने लगा। देखिये कि कीड़ा कीड़ी गंधका ज्ञान करके कैसा बाहर निकल पड़ती हैं और एक सीधी लाइन सी बना लेती हैं। तो समझिये कि उन तीन इन्द्रिय जीवोंमें कितनी समझ बढ़ गई, अब रूपका भी ज्ञान होने लगा। यों एकेन्द्रियसे लेकर चारइन्द्रिय तक यह जीव कोटि पूर्वपर्यन्त रहा। वहाँसे निकला तो किसी भी प्रकार यह जीव पञ्चेन्द्रिय हुआ। तो असैनी पञ्चेन्द्रिय हुआ, तो वहाँ मनके बिना कल्याणका पात्र भी नहीं है।

दुर्लभ समागम पानेके वर्णनके प्रसंगमें अपने लिये शिक्षाकी ओर दृष्टि—यहाँ यह अपने आपपर घटित करना कि हम कितनी-कितनी निकृष्ट स्थितियोंको पार करके आज मनुष्य हुए हैं, कितना अवसर है कि हम अपने उपयोगको संभालें, विवेकपूर्वक रहें, जरा मनको समझायें और अपने घरमें ही रहकर तृप्त होनेकी प्रकृति बनालें। तो कितना सुन्दर अवसर है कि हम अपने आत्माका कल्याण करलें। इसके विरुद्ध जो कुछ हम करते हैं उसमें सार कुछ नहीं है। किन्हीं परजीवोंमें, परपदार्थोंमें हम अपने उपयोगको लगाते हैं, स्नेह करते हैं तो उन मोही जीवोंकी ओरसे बात यह मिलती है कि वे मोहवश उनकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। तो यह मोहके आकर्षणकी दुनिया है यह तो है दुनियाकी दुनिया। और अपने आपके ज्ञानस्वभावको निरखकर तृप्त होने वाली दुनिया खुदकी दुनिया है और यही अपनी पारलौकिक दुनिया है, इन दोनों दुनियामें कितना अन्तर है? यहाँ तो एक जगह सन्तोष है, दूसरी जगह असन्तोष है, निजमें तो आनन्दका योग है और बाहरमें क्लेशका योग है। तिस पर भी ऐसा मोह छाया है कि क्लेश पाते हैं और क्लेशके ही कारणोंमें जुटे रहते हैं। जिन घरोंमें स्त्री पुत्रादिककी

ओरसे कलह होते रहते हैं और झुंझला जाते हैं, दुःखी हो जाते हैं, पर यह साहस नहीं कर सकते कि जब इनसे हमें क्लेश होता है तो हम इन्हें छोड़ दें और कोई दूसरा ढंग बना लें। जिस मोहसे कष्ट मिलता है उसी मोहको करते जाते हैं और दुःखी होते रहते हैं। यहाँ इतनी विपरीत मार्ग वाली स्थिति है। यदि कुछ सावधानी बर्ती जाये, जिसका कि साधन आजकल स्वाध्याय और सत्संग है और प्रधानतया अपने आपका ज्ञानध्यान है। सभी उपायों द्वारा अपने आपकी ओर रहकर तृप्त रहनेकी प्रकृति बना ली जाये तो यहाँ कुछ सार मिलेगा और बाहरमें कहीं कुछ भी सार नहीं है।

विकलेन्द्रियोंसे निकलकर पञ्चेन्द्रियत्वकी प्राप्तिकी दुर्लभता तो एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय तक हम पार कर चुके हैं, पर इतना यह पार होना कोई इस तरहका पार नहीं है कि अब ये गतियाँ कभी न मिल सकेंगी। अरे अगर सावधान न रहेंगे तो वहीं फिर जाना होगा। फिर वही अज्ञानभरी, वही अल्प ज्ञान वाली स्थिति मिल जायेगी। किसी प्रकार हम इन सबसे निकले तो बड़ी दुर्लभतासे पञ्चेन्द्रिय जीव हुए। तो असैनी पञ्चेन्द्रिय हुए। अब पञ्चेन्द्रिय जीवोंमें यह देखें कि कितनी तरहके संसारी जीव हैं और उन सब पञ्चेन्द्रियमें हम आप पञ्चेन्द्रियोंकी स्थितियाँ कितनी दुर्लभ हैं।

सोवि मणेण विहीणो णय अप्पाणं परंपि जाणेदि।

अह मणसहिओ हेदि दु तहवि निरिक्खो हवे रूद्धो ॥ २८७ ॥

मनरहित पञ्चेन्द्रियमें भी आत्महितकी अपात्रता पञ्चेन्द्रिय जीव हुए, पर मनसे रहित हुए तो कल्याणकी दिशामें जैसे वे विकलेन्द्रिय जीव कुछ नहीं कर सकते वैसे ही ये भी कुछ नहीं कर सकते। कानोंसे सुननेका ज्ञान बन गया, इतनी ही विशेषता बन सकती है। मन उसे कहते हैं कि जिससे हित अहितकी बातका निर्णय किया जा सके। हितमें चलाये, अहितसे हटाये ऐसी जिसमेंयोग्यता हो उसे मन कहते हैं। मनको पाकर कोई अहितसे दूर न हो और हितमें न लगे तो यह उसकी व्यक्तिगत बात है, पर मनका लक्षण यही है कि जिसमें इतनी योग्यता है कि वह हित पर चल सकता है और अहितसे हट सकता है, हित अहितकी विशेष शिक्षाका ग्रहण कर सकता है। तो ऐसा मन जब न हो तो उसने अपनेको और परको जाना ही नहीं, उसके स्वपरका विवेक नहीं है। यों तो जो अपना अस्तित्व है वह सब स्व है। जिस किसी भी प्रकारके बर्त रहा हो, यह जीव मोही, रागी, द्वेषी आदिक कैसा ही हो, सभी स्व है, लेकिन जब अपने परमार्थ स्वपर दृष्टि देते हैं कि परमार्थतः हम हैं क्या, तब वहाँ छानबीन होकर यह समाधान मिलेगा कि मैं तो एक सहज चैतन्यस्वरूप हूँ, मेरे सत्वसे मेरेमें जो कुछ बात सहज हो सकती है, वह तो हुआ मैं स्व और बाकी सब अन्य हैं पर। तो यह जीव जब मनरहित है तो न स्वको जानता है और न परको जानता है। असंज्ञी जीव वे हैं जिनके साथ संज्ञा नहीं है, जिनके पास भली प्रकार जाननेकी बुद्धि नहीं है, जो मन द्वारा उत्पन्न होता है ऐसे मानसबुद्धिरहित संसारी जीवोंको असंज्ञी कहते हैं। तो उसने स्वको भी नहीं जाना और परको भी नहीं जाना। इसने यों भी स्वपरको नहीं जाना कि मैं हूँ एक कारणपरमात्मतत्व और यहाँ पर अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये हैं पर, जिनमें कोई परमात्मा है, कोई परमात्मतत्वकी साधनामें लगे हैं, इस तरहकी स्वपरको नहीं समझा। तो जब स्वपरको नहीं जाना तो ऐसी स्थितिमें संज्ञी पञ्चेन्द्रियका मूल क्या? जो विकलेन्द्रियका मूल्य है वही इनका है। अन्तर इतना है कि इनके समझ इतनी बढ़ गई है कि वे कर्णेन्द्रियसे भी कुछ जान समझ लेते हैं। तो पञ्चेन्द्रिय हुए, मनरहित हुए तो इससे क्या काम निकला? तब मनसहित पञ्चेन्द्रिय होना दुर्लभ है।

संज्ञी पञ्चेन्द्रियमें क्रूर तिर्यञ्च भव होने पर भी हितवैशिष्ट्यका अभाव हो गए मनसहित संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और हो गए कोई रौद्र तिर्यञ्च, बिल्ली, चूहा, शेर, हाथी आदिक, तो वहाँ पर भी क्या साधन बना सकते हैं? यद्यपि तिर्यञ्चोंकी संज्ञा विशेष है, संयमासंयम होनेमें मनुष्योंकी अपेक्षा, लेकिन जब तिर्यञ्चोंकी सही गणनापर दृष्टि देते हैं तो उनमें कुछ बिरले ही तिर्यञ्च ऐसे हैं कि जो विवेक रखते हैं, जिनके सम्यक्त्व जगा है, बाकी तो सब तिर्यञ्चोंकी स्थिति देखिये कितनी दयनीय स्थिति है, ऐसे बड़े-बड़े हाथी, जिनका इतना बड़ा शरीर होता कि यदि कोई आदमी पासमें खड़ा हो जाये तो उसके एक पैरके बराबर भी आदमी मालूम पड़े। ऐसा विशाल शरीर हाथीका होता है। तो देखिये कितना बड़ा मनुष्य और कितना बड़ा हाथी, मगर मनुष्यके छोटे-छोटे बच्चे भी हाथी पर जैसा चाहे चढ़ते-उतरते हैं और एक अंकुशके बल पर उसे जैसा चाहे नचाते हैं। जिस हाथीका इतना बड़ा पराक्रम होता है कि सिंह तकको भी दबोच दे। यद्यपि अपनी चंचलताके कारण सिंह हाथीको पिछाड़ देता है पर शक्ति हाथीकी इतनी अधिक होती है कि यदि सूँडमें लपेट पाये अथवा पैरोंके नीचे ला पाये तो सिंहको भी परास्त कर दे। इतनी शक्ति वाला हाथी भी मनुष्यके बच्चोंके द्वारा जैसा चाहे नचाया जाता है। तो यहाँ बताया जा रहा था कि यदि ऐसे मनसहित रौद्र तिर्यञ्च भी हो गए तो उससे क्या फायदा उठाया ? ये स्थितियाँ हम आपकी भी हुई हैं, और फिर हो सकती हैं। किसी पर दया आनेका कारण यह है कि हमारी प्रतीतिमें और बुद्धिमें यह भाव पड़ा हुआ है कि यही स्थिति हमारी भी तो थी या हो सकती है; जैसे बहुतसे भिक्षुक जनोंको बड़ी दयनीय दशामें देखकर दया उपज जाती है तो वास्तवमें उस दया करने वालेने उस भिक्षुकपर दया नहीं की, बल्कि खुदपर दया की, क्योंकि उसने सोचा कि इस बेचारेकी जैसी स्थिति कभी हमारी भी हुई होगी या हो सकती है। तो दया करने वाले लोग जब पहिले उस विषयक विकल्प करके अपने आपको दुःखी कर डालते हैं तब उनके दया उत्पन्न होती है। यदि ऐसे तिर्यञ्च भी हो गए तो उससे क्या लाभ? किसी भी एक तिर्यञ्चको देख लो तो उससे संसारके दुःखोंका बहुत कुछ भान हो जाता है। घोड़ोंकी जिन्दगी देखिये जहाँ दो वर्षके हुए बस इक्का ताँगा आदिमें जुतने लगे। लोग उन पर १५-२० आदमी भी बैठाल लेते हैं, जब वे चलनेमें कुछ कमी करते हैं तो उनपर कोड़े पड़ते हैं। इस तरहसे बोझका दुःख व कोड़ोंकी मारका दुःख वे बेचारे घोड़े सहते हैं। और वे ही बेचारे घोड़े जब वृद्ध हो जाते हैं, चलनेमें असमर्थ हो जाते हैं तो उन पर लोग इतना भी रहम नहीं करते कि चलो शेष जीवन इसे यहीं बिता लेने दो, वे कषायियोंको बेच देते हैं। उन कषायियों द्वारा उन बेचारे घोड़ोंकी निर्मम होकर हत्या कर दी जाती है। भला सोचो तो सही कि उन घोड़ोंका कैसा जीवन है?

दुर्लभ मनुष्यभव पाने पर कर्तव्य व अकर्तव्यके विवेककी आवश्यकता—हम आप मनुष्योंको तो कितनी सुविधायें मिली हुई हैं, किन्तु उन सुविधाओंपर दृष्टि न देकर लोग तृष्णाके वशमें आकर दुःखी रहा करते हैं। वर्तमान प्राप्त सुविधाको नहीं भोग पाते। इस लालसा (तृष्णा)के कारण जो जितना धनिक है वह उतनेमें ही दुःखी है। अरे जरा सोचो तो सही कि हमारी हजारों-लाखों लोगोंसे भी अधिक अच्छी स्थिति है। सब प्रकारकी सुविधायें मिल रही हैं। जीवन अच्छी प्रकार चल रहा है। संक्षेप रूपसे यह कह सकते हैं कि जिसको जितना जो मिला है वह उसे जरूरतसे ज्यादा मिला है। लेकिन ऐसा कोई मानता तो नहीं है कि मुझे जरूरतसे ज्यादा मिला है। अब आगे ज्यादा धन-वैभव बढ़ानेकी जरूरत नहीं है। रही यह बात कि दुनियाके लोग वाहवाही न कर सकेंगे। क्योंकि आज अर्थका युग है, अर्थ अधिक न होनेसे इस दुनियावी लोगोंके बीच इज्जत न मिल सकेगी। तो आपकी यह बात मान भी लें, लेकिन जिसे सही ज्ञान जाग्रत हो गया है उसकी तो यही वृत्ति है कि भीख मांगकर उदर भरे, पर करे

नहीं चक्रीका काम। अरे जो लोग किसीकी थोड़ीसी इज्जत कर देते हैं वे हैं क्या? वे तो पापी संसारमें रुलने वाले, जन्म मरण करने वाले स्वार्थी प्राणी हैं। वे कोई खास चीज तो नहीं हैं कि जिनसे इज्जत मिलनेकी चाहकी जाये। अरे अपनी दृष्टिमें अपनको अच्छा तो देख लो। यही समस्त पूरी अपनी दुनिया है। अपनेमें अपनेको अच्छा वही देख सकेगा जो दुराचारसे दूर है। जो किसीको कभी धोखा न दे, किसीका कभी बुरा न विचारे, जो सबको सुखी रहनेकी भावना रखे, जिसने अपनेको ज्ञानमार्गमें लगया है वही संतुष्ट रहेगा। और जिसने इस सदाचारके विरुद्ध अपना कदम रखा है उसके ज्ञान जगेगा तो पछतावा करेगा और न जगेगा तो पछतावा करनेकी भी बुद्धि न जगेगी। खोटी स्थिति होगी। इन सब बाह्य बातोंको अध्यात्मवाद दृष्टिमें गौण करके अपनेको निरख करके अपनेमें तृप्त रहनेकी प्रकृति बना लीजिए। स्वानुभव ज्ञानानुभव जो कि विशुद्ध आनन्दका कारण है उसे कर लीजिए। बताओ अन्य कौनसा अनुभव आनन्दका कारण होगा? अन्य अनुभव तो क्लेशके ही कारण बनते हैं। यह जीव किसी तरह पञ्चेन्द्रिय जीव हुआ और मनसहित भी हुआ तो तिर्यञ्च हुआ। तब वहाँ भी यह जीव करेगा क्या? ऐसे अशुभ परिणाम करके आर्तरौद्रध्यानका परिणाम जो जीव रखते हैं वे मरकर नरकमें जन्म लेते हैं।

सो तिव्व असुहलेस्सो णरये णिवडेइ दुक्खदे भीमे।

तत्थवि दुक्खं भुंजदि सारीरं माणुसं पउरं ॥ २८८ ॥

तीव्र अशुभलेश्यावश जीवका नरकमें पतन व शारीरिक-मानसिक दुःखका उपभोग[]वे पशु तिर्यञ्च जीव तीव्र अशुभ लेश्या वाले होकर नरकमें जन्म लेते हैं, जहाँ पर भयंकर दुःख हैं। वहाँ पर ये जीव शारीरिक और मानसिक सभी प्रकारके दुःख भोगते हैं देखिये शरीरजन्य दुःख कितने प्रकारके हैं, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदिक रोगोंकी तो गिनती क्या है? आयुर्वेद शास्त्रोंमें बताया है कि व्याधियाँ ५ करोड़ ६८ लाख ९९ हजार ५८४ (५,६८,९९,५८४) प्रकारकी हैं। अब लोगोंको कोई १०-२० प्रकारकी व्याधियाँ मालूम हैं जैसे ज्वर, खांसी, टीबी, कैन्सर आदिक। मगर इतनी ही जातियाँ उन शारीरिक व्याधियोंकी नहीं हैं। तो अनेक प्रकारके शारीरिक और मानसिक दुःख इस जीवने सहे, क्योंकि बड़ी तीव्र कषाय है, कलुषितचित्त है, ऐसा मानसिक दुःख होता है। शारीरिक दुःख पर हमारा वश नहीं चल सकता। तो मानसिक दुःखोंको दूर करनेके लिए हम कुछ तत्काल यत्न कर भी सकते हैं, क्योंकि वह तो मनसे विचारा हुआ है, कल्पना कर लिया है। किसीको मान लिया कि यह मेरा विरोध है बस दुःख उसमें होना शुरू हो जाता है। उसका देखना, बोलना, बैठना आदिक न सुहाये और सामने भी न हो, तो कल्पनायें करके दुःख मान लेते। देखो सब जीवोंमें जीवत्व जातिसे समानता है और जगताका कोई यह नियम नहीं है कि ये जीव मेरे विरोधी हैं और रहेंगे। अरे आज अगर विरोधी हैं तो कहो इसी जीवनमें थोड़ी ही देर बादमें परम मित्र बन जायें। और, आज जो मित्र हैं उनका भी कुछ भरोसा नहीं कि कब तक मित्रता निभायें, थोड़ी ही देरमें शत्रु बन सकते हैं। तो यहाँ किसे विरोधी मानें और किसे बन्धु मानें? जीव हैं सब। सभीके प्रति समताका भाव रखें। भीतरमें ऐसा परिणाम हो तो वहाँ मानसिक दुःख न रहेगा। जब चिंता कलुषता जगती है तो वहाँ मानसिक दुःख होता है।

नारकियोंकी परस्परदीरित दुःखता[]नरकोंमें कुछ परस्पर क्रिया वाले भी दुःख हैं। जैसे एक नारकी दूसरे नारकीको छेदता-भेदता है। कोल्हूमें पेलना, भाड़में भूजना, पकाना शूलों पर फेंक देना, तलवारके धारके समान नुकिले पतों वाले वृक्षोंके नीचे डाल देना आदिक दुःख एक नारकी दूसरे नारकीको देता है। वहाँ दूसरे नारकीको दुःख देनेके साधनभूत शस्त्र कहीं बाहरसे दहाँ लाने पड़ते। उनके शरीरमें ही ऐसी विक्रिया है कि जहाँ

संकल्प किया कि मैं इसे तलवारसे मार दूँ तो उनका वह हाथ ही तलवारका रूप धारण कर लेता है। यहाँ तो हम आपका औदारिक शरीर है लेकिन जब किसीको तीव्र कषाय जगती है तो उनके हाथ ही अनेक शस्त्रोंका काम करने लगते हैं। जैसे किसीको मुट्ठी बाँध कर तेजीसे हाथ मार दिया तो वह हाथ गदाका काम करता है, अथवा हाथके मुट्ठेसे अंगूठा निकला कर तेजीसे मार दिया तो वह हाथ शूलीका काम करता है अथवा हाथको यों ही बगलसे तेजीसे मार दिया तो वह हाथ तलवारका काम करता है। तो जब यहाँ हम आप औदारिक शरीरवालोंमें ऐसी बात पायी जाती है तो फिर वे तो वैक्रियक शरीरवाले जीव हैं, उनको तो दुःख देनेके साधन कैसे कहीं बाहरमें ढूँढने पड़ेंगे। वे तो मारनेका संकल्प जब करते हैं तब ही उनके हाथ शस्त्ररूप बन जाते हैं। तो कितने कठिन दुःख हैं नरकोंमें।

आजकल अधिकांश लोग तो स्वर्ग और नरकका विश्वास ही नहीं करते। वे तो कहते कि स्वर्ग नरक सब यही है। लेकिन कुछ युक्तियोंसे और आगमसे जानकर स्वर्ग और नरककी बात बतायी गई है। जिन ऋषि संतोंके वस्तुस्वरूपके वर्णनमें कहीं विरोध नहीं पाया जाता उन ऋषि संतों द्वारा बतायी हुई बातोंमें शंका न करना चाहिए। करणानुयोगमें जब नरकभूमिका शरीरका, और और बातोंका वर्णन आता है और दूरवर्ती मेरूपर्वत आदिकका वर्णन आता है, और और प्रकारके वर्णन चलते हैं तो उनको पढ़कर वहाँ ऐसी प्रमाणीकताकी बुद्धि कर लेते हैं कि हाँ यह सत्य है। तो नरक इस पृथ्वीसे नीचे हैं। ७ नरक हैं। उनमें ऐसी तीव्र वेदना भोगनी होती है, और वह भी १००-२०० वर्ष हीकी बात नहीं, अनगिनते वर्षों तक, सागरों पर्यन्त तक वहाँ घोर दुःखोंको सहन करना पड़ता है। नरकमें कमसे कम १० हजार वर्ष तो रहना ही पड़ता है और सागरोंका समय तो असंख्यात वर्षोंका है। इतने लम्बे समय तक वहाँकी घोर यातनाओंको सहन करना पड़ता है। तो ऐसी खोटी योनियोंमें तीव्र कषाय करने वाले जीवोंको जन्म लेना पड़ता है। अब विचार करना होगा कि हम आपने कितना दुर्लभ मानव-जीवन पाया है? इस जीवका ऐसा उपयोग करें कि जिसमें धर्मसाधनाका ही विशेष महत्व हो।

तत्तो णिस्सरिदूणं पुणरवि तिरिण्णु जायेदेणवो।

तथ वि दुक्खमणंतं विसहदि जीवो अणेयविहं ॥ २८९ ॥

नरकसे निकलकर तिर्यच होनेपर अनेकविध दुःखोंका पुनः उपयोग—यह जीव नरकसे निकला तो फिर तिर्यचगतिमें पापरूप उत्पन्न हुआ। नरकसे निकलकर जीवकी केवल दो ही स्थितियाँ होती हैं या तो मनुष्य हो या तिर्यच हो। प्रायः करके नरकसे निकलकर यह जीव तिर्यच बनता है। तो नरकसे निकलकर तिर्यचगतिमें आकर बहुत समय तक इस जीवने नाना प्रकारके दुःख सहे। तिर्यचगतिके नाना तरहके दुःख स्पष्ट विदित हो रहे हैं। भूख-प्यास, भर लादना, ठंड, गर्मी आदिक अनेक प्रकारके दुःख हैं। कुत्ता, घोड़ा, हाथी, गाय, भैंस आदि बिरले ही कोई पशु जीव पुण्यवान ऐसे पाये जाते हैं जिनकी उनके मालिक लोग बड़ी सेवा करते हैं, लेकिन प्रायः करके सभी तिर्यञ्च जीव नाना प्रकारके दुःख सह रहे हैं। कितने ही लोग तो उन पशुओंका निर्दयतापूर्वक शिकार करते हैं, उनका छेदन भेदन करना, उनको ताड़ना देना, उनकी हत्या करना आदिक नानाप्रकारके दुःख इन तिर्यञ्चोंके पाये जाते हैं। किसी पशुके शरीरमें व्याधि हो जाये, जैसे कुत्तोंके, झोंटोंके, गधोंके कंधे वगैरह सूज जाया करते हैं, उनसे खून भी चूता रहता है पर कौन है उन पर रहम करने वाला। उन बेचारे पशुओंके पास इलाज करनेका कोई साधन नहीं है, अथवा गाय, बैल, भैंस आदि कहीं बाँध दिए, मालिकने उनकी ओर अगर ध्यान न दिया तो वे बेचारे भूख-प्याससे जहाँके तहाँ बंधे रहा करते हैं, किसीने कहीं धूपमें किसी जानवरको बाँध दिया, अगर उसका वहाँसे

लाना भूल गए तो वह पशु धूपकी ज्वालामें जल जलकर दुःखी होता रहता है। उन बेचारों पर कौन दयाका भाव करता है? दयाका भाव होनेको अनुकम्पा कहते हैं। जब खुदके अन्दर भी कुछ कम्पन हो गया तो ऐसी स्थितिमें दयाका भाव उत्पन्न होता है। बोधिदुर्लभ भावनामें यह बतला रहे हैं कि हम आपने जो भी स्थिति पायी है वह बड़ी दुर्लभ है, और आगे कौनसी स्थिति पाने योग्य है जो कि अति दुर्लभ है? निगोद, स्थावर, विकलेन्द्रिय आदिकसे निकलकर हम आप आज मनुष्य हुए हैं तो कितनी ऊँची स्थितिमें आ गए, यहाँ आकर हमको कितनी ऊँची स्थिति बनानी चाहिए, क्या पुरुषार्थ करना चाहिए? यह सब बताया जायेगा। यहाँ तक यह बात आयी कि यह जीव तिर्यञ्च गतिमें भ्रमता रहा। वहाँसे भ्रमकर नरकमें गया, नरकसे निकलकर तिर्यञ्च हुआ।

रयणं चउप्पहे पिव मणुपत्तं सुदु दुल्लहं लहिय।

मिच्छो हवेइ जीवो तथ्य वि पावं समज्जेदि ॥ २९० ॥

दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर भी पापोपार्जनका अपराध मनुष्यभवका पाना ऐसा दुर्लभ है कि जैसे चौहट्टे पर गिरी हुई रत्नमणिका मिलना दुर्लभ है। चौहट्टेपर चारों ओरसे लोगोंका आना जाना बना रहता है, वहाँ पर किसीका गिरा हुआ रत्न कैसे पड़ा रहेगा? तो जैसे चौहट्टे पर रत्नमणि मिलना दुर्लभ है ऐसे ही नरभव मिलना अति दुर्लभ है। ऐसे दुर्लभ नरभवको पाकर यहाँ मिथ्यादृष्टि होकर लोग पापकार्योंमें रत होते हैं। पापकार्य वे हैं जो भले कामोंसे बचावें, याने अच्छे काम जो न करने दें उनका नाम पाप है। हिंसा, झूठ, चोरी कुशील, परिग्रह आदि इन समस्त पापोंमें आकुलता बसी है। उस आकुलताको यह जीव भोगता जाता और उस दुःखको दूर करनेका उपाय पापको ही समझता है। दूसरोंका दिल दुःखा दिया, जैसी चाहे बता कह दिया। थोड़ी सी पुण्य सामग्री पाकर यह जीव मौज मानता है, दूसरोंसे ईर्ष्या करता है। सो ठीक है, कर लें जैसा चाहे मनचाहा, पर इस खोटी करनीका फल दूसरा भोगने न आयेगा। यहाँ तो सब कुछ सच्चाईसे काम चल रहा है। जो जीव जैसा परिणाम करता है उसके अनुसार कर्मोंका बन्ध होता है। उन कर्मोंका उदय आनेपर उस जीवको वैसा फल प्राप्त होता है। यह निमित्तनैमित्तिक भावकी बात ठीक जंच रही है, क्योंकि इसमें दो चीजोंका सम्बन्ध है एक यह चेतन है और दूसरा अचेतन है। बेईमानी अचेतन क्या करेगा? चेतन जैसे परिणाम करेगा वैसा उसमें प्रभाव बनेगा। लेकिन यह सोचना चाहिए कि यहाँ थोड़ीसी मौजके लिए यदि पापकार्योंमें प्रवृत्तिकी तो उसका फल भोगने कौन आयेगा? कदाचित् पूर्वकृत उदयसे पापकार्य करते हुए भी मौजके प्रसंग बने रहें, पर उस पापकर्मका फल बेकार न जायेगा उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। तो मनुष्य होकर यह सावधानी रखनी है कि हमारा पाप करनेका भाव न हो, किसीका दिल दुःखानेका भाव न हो, झूठ बोलनेका भाव न हो, किसीकी चीज चुरानेका भाव न हो, किसी परपुरुष अथवा परस्त्री पर कुदृष्टिका भाव न हो, परिग्रहकी लालसा न हो, इस प्रकारका परिणाम रखनेका यत्न करें। तो यहाँ खेदके साथ कहा जा रहा है कि मनुष्यभव तो पाया मगर वहाँ पर भी इस जीवन पापकर्मका ही उपार्जन किया और प्रायः करके म्लेच्छ खण्डमें जन्म पाया, म्लेच्छमयी स्थितियाँ पायीं तब फिर इसने मनुष्य होकर भी कुछ लाभ न उठा पाया।

अह लहदि अज्जवत्तं तह ण वि पावेइ उत्तमं गोत्तं।

उत्तम कुले वि पत्ते धण-हीणो जायेदे जीवो ॥ २९१ ॥

आर्यक्षेत्रमें जन्म पाकर भी उत्तम कुलके न होनेसे क्लेशपात्रता कभी यह जीव आर्यक्षेत्रमें भी उत्पन्न हुआ पर वहाँ पर भी उत्तम कुल न प्राप्त किया तब तो फिर यह जीव आत्मशीलसे वञ्चित ही रहा। देखिये जहाँ

उत्तम कुल नहीं मिलता वहाँ कैसा वातावरण होता है, लोग वहाँ प्रायः करके आकुलित रहा करते हैं। आकुलतायें मिटानेका उपाय सिवाय ज्ञानप्रकाशके और कुछ नहीं है। जहाँ परवस्तुओंको अपनाया, उनमें स्नेह किया, उनमें अपने मनके अनुकूल परिणामन देखना चाहा, बस वहाँकी आकुलताके प्रसंग आ गए। इन आकुलताओंके मेटनेका उपाय मात्र सम्यग्ज्ञान है। किसीको इष्टका वियोग हो तो जब तक उसकी यह दृष्टि रहती है कि बेचारा कितना अच्छा है, वह बेचारा हमारी कितनी फिक्र करता था, आज यहाँसे चला गया...। यों सोच सोचकर उसका दुःख बढ़ता रहता है, लेकिन कदाचित् उसे वस्तुकी स्वतंत्रताका बोध हो जाये कि यहाँ प्रत्येक वस्तु स्वतंत्र है, सबकी सत्ता न्यारी न्यारी है, सब जुदे जुदे ही आते हैं, जुदे जुदे ही कर्मफल भोगते हैं, जैसे मैं जीव सबसे निराला हूँ वैसे ही सभी जीव मेरेसे अत्यन्त निराले हैं, यहाँ कोई मेरा नहीं, लो इस प्रकारकी दृष्टि बनयी कि उस विषयक सभी आकुलतायें समाप्त हो जाती हैं। तो भला बतलाओ, आकुलता किसने पैदा करायी? अरे खुदकी अज्ञानदशाने ही तो उन आकुलताओंको पैदा किया। आश्रयभूत बाह्यपदार्थोंने उन आकुलताओंको नहीं उत्पन्न किया और न वे आकुलतायें उन साधनोंसे दूर हो सकती है। निमित्तभूत कारणकी बात तो अवश्य है, पर आश्रयभूत पदार्थोंको हम अपनी कल्पनामें लाकर, उपयोगमें लाकर उन्हें कारणभूत बना दिया करते हैं। हम जब भ्रममें हैं तब दुःखी हैं, भ्रम दूर हो गया तो आनन्द हो गया। तो ज्ञानप्रकाश मिले बस इससे ही आकुलतायें दूर हो सकती हैं, अन्य उपयोंसे आकुलता नहीं दूर हो सकती हैं, अन्य उपायोंसे आकुलता नहीं दूर हो सकती हैं। आकुलता दूर करनेकी इच्छा जिन्हें है उन्हें यह निर्णय रखना चाहिए कि हम वस्तुस्वरूपके सही ज्ञानका अर्जन करें। पदार्थ वास्तवमें कैसा है, हम इस बातको दृढ़तासे समझ लेंगे बस आकुलतायें खतम।

प्रतिष्ठाकी चाहमें दुःखसंदोहभागिता—आप लोग देख रहे हैं कि सभी मनुष्य अपने अपने दुःख मान रहे हैं तो दुःख काहेसे है? दुःख है उन समस्त मिथ्या धारणाओंसे, जिनको कि चित्तमें बसा रखा है। इनसे मेरी इज्जत है, इनसे मेरी प्रतिष्ठा है, ये ही मेरे सब कुछ हैं, इनसे मुझे सुख मिलेगा आदि इस प्रकारकी मिथ्या धारणाओंके कारण ये जीव दुःखी है। लोग धनिक क्यों बनना चाहते? क्या किसीको खाने पीनेकी कमी है? अथवा ठंड गर्मी आदिसे बचनेके साधन नहीं हैं इसलिए धनिक होना चाहते? अरे धनिक तो इसलिए होना चाहते कि इतने लोगोंके बीचमें हमारी प्रतिष्ठा होगी। ये लोग समझ जायेंगे कि यह भी कुछ हैं। बस इस थोड़ीसी इज्जत प्रतिष्ठाकी चाह करतके लोग धनार्जन करनेकी होड़ करते हैं। लेकिन जो परद्रव्य हैं उनपर किसीका कुछ अधिकार तो नहीं है। लोग धनिक होना चाहते हैं अथवा संतानवान होना चाहते हैं, उन परद्रव्योंका परिणामन अपनी इच्छानुकूल देखना चाहते हैं। वैसे देखनेको मिलता नहीं इसीलिए लोग दुःखी रहा करते हैं। संतान चाहने वाले लोगोंके मनमें भीतरमें एक ऐसा भाव पड़ा रहता है कि इससे मेरी कीर्ति होगी, इससे मेरा कुल चलेगा, मेरा नाम चलेगा, लोग कहेंगे कि यह उनका लड़का है, अगर कोई ऐसा सोचता हो कि हमारी वृद्धावस्था आनेपर हमारा लड़का हमारी मदद करेगा इसलिए हमें संतान चाहिए, तो उसका यह सोचना गलत है। अरे अगर आपके पुण्यका उदय होगा तब तो आपकी संतान आपकी मदद करेगी, अन्यथा नहीं। अगर आपके पापका उदय चल रहा है तो बहुत-बहुत प्रेम दिखाने वाली संतान ही आपके प्रतिकूल हो जायेगा। और वह संतान कितना ही प्रतिकूल हो जाये, यदि आपके पुण्यका उदय है तो अन्य पड़ोसी लोग भी आपकी मदद कर देंगे। तो संतानसे कीर्ति अथवा आरामकी आशा करना कोरा स्वप्न है। तो जो लोग कुछ भी वैभव चाह रहे हैं वे इसीलिए चाहते हैं कि मेरी कीर्ति हो। यहाँ मेरीके मायने है यह पर्याय, यह देह। बस इस पर्यायको निरखकर, समझते हैं कि मैं तो यही हूँ ओर इस मेरेकी कीर्ति हो।

उन्होंने यह नहीं समझ पाया कि मैं यह देह नहीं हूँ। मैं तो इस देहके अन्दर विराजमान जो शुद्ध चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्व है, वह हूँ। उस चैतन्यमात्र अंतस्तत्त्वको लोग जानते ही कहाँ हैं ? वे तो इस दिखने वाली पर्यायमें ही अहंबुद्धि किए जा रहे हैं। तो देखिये ना व्यर्थका ही एक विकार बनाकर, भ्रम बनाकर इस जीवने अपने आपको कितना दुःखी कर डाला ? इस जीवको अपने आपके ज्ञानप्रकाशका जब पता पड़ेगा तो अपने आपको सुखी कर लेगा। इस जीवका सच्चे ज्ञानके सिवाय अन्य कोई साथी नहीं है। विपदा में, सम्पदामें हर जगह सुख मिलता है, शान्ति मिलती है तो वह ज्ञानकी ही करामात है। हमारा ज्ञान सही बना रहे तो फिर कुछ आपत्ति नहीं है। आपत्ति तो ज्ञानके विरुद्ध परिणामनसे है। जब दुःख नहीं चाहते तो एक ही तो कर्तव्य करनेका रह गया कि हम विशुद्ध ज्ञानका अर्जन करें।

उत्तम कुल पानेपर भी धनहीनतामें दुःखभागिता—यह जीव मनुष्य बना, आर्यक्षेत्रमें जन्म लिया, इसने उत्तम गोत्र पाया, मगर धनहीन रहा, भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदिकके दुःखसे बचनेका साधन न रहा। ऐसी स्थिति वाले लोगोंको तो हम निर्धन कह सकते पर लखपति करोड़पति आदि भी तो अपनेको तृष्णावश गरीब ही अनुभव करते हैं। उनके मनमें यही चाह बनी रहती है कि इतना धनाभावके कारण विशेष चिंता रहा करती थी। एक दिन उसने राजासे शादीमें कुछ मदद करनेके लिए निवेदन किया। राजने कहा ठीक है कल सुबह तुम्हें जितना धन चाहिए हो हमसे मांग लेना। वह ब्राह्मण घर आया। शाको खाटपर लेटे हुएमें सोच रहा था कि कल राजासे कितना धन मांगना चाहिए ? विचार हुआ कि १००, माँग लेंगे। उस समय उस बेचारेकी दृष्टिमें १००) काफी थे। परन्तु ध्यान आया कि अरे १००) से क्या होगा ? जब राजाने कह ही दिया है कि तुम्हें जितना चाहिए हो सो मांग लेना, सो हजार रुपये मांग लेना चाहिए। पर फिर याद आया कि अरे हजार रुपयेसे क्या होगा ? हजारपति तो हमारे ये पड़ोसी लोग भी हैं पर ये भी तो सुखी नहीं हैं, हमें तो लाख रुपये मांग लेने चाहिए, पर जब लखपतियोंपर दृष्टि गई तो सोचा कि ये लोग भी तो सुखी नहीं है, हमें करोड़ रुपये माँग लेना चाहिए। करोड़पतियों पर जब दृष्टि गई तो वे भी सुखी नजर न आये। सोचा कि आधा राज्य माँग लेंगे, पर विकल्प हुआ कि लोग कहेंगे कि देखो यह राज्य तो इस अमुक राजाका था और इसे मांगनेपर दिया है। सो सोचा कि वह भी बात ठीक न रहेगी, पूरा राज्य मांग लेना चाहिए। अब सुबह होनेको था सो वह सामायिक करने बैठ गया। उस समय परिणाम विशुद्ध हुए, तब राजाकी दशापर दृष्टि गई तो सोचा कि देखो यह राजा कितना हैरान रहा करता है, इसको इस राज्य वैभवके पीछे न जाने कितनी कितनी चिंतार्ये करनी पड़ती हैं ? इसलिए यह राजा भी सुखी नहीं है। हमें पूरा राज्य लेकर क्या करना, आधा ही राज्य मांगना चाहिए। फिर सोचा कि आधे राज्यमें भी दुःख है, करोड़ रुपये ही माँग लेना चाहिए, पर करोड़पतियोंकी हालतपर विशेष चिंतन चलनेसे ऐसा पाया कि वे भी बहुत दुःखी रहा करते हैं, उनको बैठनेकी फुरसत नहीं, इधर उधर दौड़धूप मचाये रहते हैं। रात्रिको अच्छी तरह सो भी नहीं सकते हैं, जगह-जगह उनके लिए टेलीफोन लगे हुए हैं। यहाँ तक कि संडास तकमें बहुतसे लोग टेलीफोन लगवा लेते हैं यों करोड़पतियोंकी हालतपर विचार करके क्रमशः लखपति, हजारपति व शतपतियोंपर दृष्टि गई। किसीको सुखी न देखा। इसी चिंतनमें वह ब्राह्मण रात्रिभर सो न सका था, अब प्रातःकाल भगवानका भजन करने बैठा तो उस समय उसका यही चिंतन बना हुआ था कि हमें राजसे कुछ न मांगना चाहिए, हमारी जैसी स्थिति है वैसी ही ठीक है। इतनेमें सामनेसे वह राजा टहलता हुआ निकला और बोला ऐ विप्र! माँगों-क्या चाहते हो ? तो हाथ जोड़कर वह विप्र बोला-महाराज हमें कुछ न चाहिए। हमें तो यही स्थिति ठीक है। सो हमें चाहिए कि आज

जो हमारी स्थिति है उसीमें व्यवस्था बनायें। यों तो आवश्यकतायें अनन्त हैं, उनकी पूर्ति कभी हो नहीं सकती।

अह धण-सहिदो होदि हु इन्द्रिय-परिपुण्णदा तदो दुलहा ।

अह इन्द्रिय-संपुण्णो तह वि सरोओ हवे देहो ॥ २९२ ॥

धनसहित होनेपर भी इन्द्रियपरिपूर्णताकी दुर्लभता—अब यह जीव धनसहित भी हो गया, मगर इन्द्रियकी परिपूर्णता न हुई तो क्या लाभ ? मान लो कोई इन्द्रिय ठीक नहीं हैं, आँखें न हों, या हाथ पैर वगैरह ही कट जायें, या लकवा वगैरह हो जानेसे कोई शारीरिक अंग खराब हो जायें तो यह भी एक बहुत बड़ी कमी है। अगर इन्द्रियकी परिपूर्णता नहीं है और धनिक विशेष हो गए तो भी उससे क्या लाभ ? तो शरीरका आरोग्य होना भी बड़ी मुश्किलसे मिलता है। ज्वर, खांसी आदिक अनेक ऐसे उपद्रव होते हैं जो कि इस मनुष्यको हैरान करते रहते हैं। अगर कोई आधि व्याधियाँ, बीमारियाँ चलती रहती हैं तब फिर इस मनुष्यको उस व्यथाका आर्तध्यान बना रहता है। तो मनुष्य होनेपर भी यदि रोगोंसे (बीमारियोंसे) भरा हुआ जीवन रहा तब कुछ लाभ तो न उठाया जा सका। अब अपने आपकी बात देख लीजिए हम आप आर्यक्षेत्रमें उत्पन्न हुए हैं, धनहीन भी नहीं हैं, इन्द्रियोंकी परिपूर्णता है और देह भी निरोग है। यों तो प्रत्येक देहमें रोग हैं कोई भी देह रोग बिना नहीं फिर भी जरा-जरासे रोगोंसे हम आपको घबड़ाना न चाहिए। उन रोगोंकी तरफ विशेष ध्यान न देना चाहिए, उनके प्रति उपेक्षाका जैसा भाव रहना चाहिए। और यह ध्यान रखें कि यह वही शरीर है जो किसी दिन जला दिया जायेगा, उस शरीरकी ओर विशेष ध्यान रखनेसे क्या लाभ ? अथवा उस शरीरके पीछे रोना क्या ? तो यों यह जीव इतनी-इतनी स्थितियोंको पार करके आज इतनी अच्छी स्थितिमें है कि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य हुआ। उत्तम कुल भी मिल गया, धन भी आवश्यकतानुसार मिल गया, वैसे तो आवश्यकताकी बातपर यदि विचार किया जाये तब तो फिर सभी लोग यह अनुभव कर सकते हैं कि वास्तवमें आवश्यकतासे अधिक धन हम सबको मिला है। यदि दृष्टि बदल गई हो, धर्मपालनका भाव है, सम्यक्त्व उत्पन्न करनेकी धुन बनी हो, आत्माके सहज ज्ञानस्वरूप पर दृष्टि रखनेका अभ्यास बनाया हो तब तो उस व्यक्तिकी दृष्टि ऐसी बन जायेगी कि वास्तवमें यहाँकी समस्त परवस्तुवें मरेसे अत्यन्त भिन्न हैं, मेरे लिए ये सब विडम्बनारूप हैं, अगर ऐसा भाव आ गया तो उसकी बहुतसी चिंतायें स्वतः ही खत्म हो जायेंगी। यहाँ यह बताया जा रहा है कि इन्द्रिय परिपूर्णताकी प्राप्ति भी बहुत दुर्लभ है। बाह्यकरण व अन्तःकरणकी परिपूर्णता होनेपर ही तो चिन्ताविनाशक उपयोग किया जा सकता है।

वर्तमान दुर्लभ समागमके अवसरपर अपना उत्तरदायित्व—लोकमें जो भी पदार्थ हैं वे पहिलेसे थे तब ही अब हैं। ऐसा कोई पदार्थ नहीं जो पहिले तो कुछ भी न हो और हो गया हो; अर्थात् जो भी है वह अनादिसे है। अपने आपके सम्बन्धमें विचारें कि हम हैं तो अनादिसे हैं और जब अनादिसे हैं, किसी दिन हमारी नई सत्ता नहीं बनी, किसी न किसी रूपमें हम अनादिसे चले आये हैं तो किस रूपसे चले आये हैं और आज हमने अपना क्या रूप पाया है, इस विषयका यहाँ विचार करना है। यह जीव सबसे पहिले निगोद अवस्थामें था। वहाँसे निकला तो अन्य एकेन्द्रिय जीव हुआ, फिर दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय आदि हुआ। फिर असैनी, सैनी हुआ तो तिर्यञ्च नारकी आदि हुआ। और, अब हुआ मनुष्य। तो यहाँ यह बात देखना है कि हम कितनी खोटी योनियोंको पार करके आज मनुष्य हुए हैं अब इस मनुष्य पर्यायको पाकर हमें क्या करना चाहिए ? हमें अच्छे ही काम करना चाहिए और उनमें दृढ़ता रखनी चाहिए ताकि आगे उन्नति होती रहे। जब हम इतनी खोटी स्थितियोंको पार करके आज मनुष्य हुए हैं तो हमें ऐसे ही कार्य करने चाहिए कि जिससे इस मनुष्य भवसे नीचे

तो न गिर जायें। आत्माका उत्कर्ष बनाये रहें, व्यर्थका जो मोहजाल है उसमें बेसुध न हों। कितने दिनोंके लिए यह सम्बन्ध है ? थोड़े दिनोंके लिए यह मोहजाल बनायें तो उससे जीवको क्या लाभ मिलेगा ? उससे तो जीवको खोटी योनियोंमें ही जन्म लेना होगा। तो बहुत बड़ी जिम्मेदारी है इस मनुष्यभवको पाकर आत्माकी। तो इसी प्रसंगमें यह कहा जा रहा है।

अह णीरोओ होदि हु तह वि ण पावेदि जीवियं सुइरं।

अह चिर-कालं जीवदि तो सीलं णेव पावेदि ॥ २९३ ॥

नीरोग शरीर पानेपर भी सुचिर पीवन पानेकी दुर्लभता यह जीव अनेक स्थितियोंको पार करके मनुष्य हुआ है। तो मनुष्यमें भी कितनी दुर्लभताकी बातें पायी हैं। आर्यक्षेत्रमें जन्म हो गया यह भी कठिन चीज थी क्योंकि म्लेच्छखण्डमें जन्म होता तो वहाँ हिंसात्मक कार्योंमें ही समय व्यतीत होता। आर्यक्षेत्रमें रहकर भी उत्तम कुलमें न हुए, चाण्डाल आदिकके कुलमें हो जाते तो वहाँ अभक्ष्यभक्षणमें व अनेक दुराचारमें ही समय व्यतीत होता। तो हम आपको ऐसा उत्तम कुल मिल गया। उत्तम कुल मिलने पर भी अगर धनहीन होते तो वहाँ भी मलिनताका ही अवसर था। तो देखिये हम आपको धन भी प्राप्त हुआ है। धन उतनेका नाम है जितनेमें इस शरीरका निर्वाह हो सकता है। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी आदिक वेदनाओंसे बचाव किया जा सके, बस इस स्थितिको धनिक कहो अन्यथा तो कोई धनिक नहीं हो सकता। आज जो लखपति करोड़पति लोग दिखते हैं वे भी अपनेसे अधिक धनिक लोगोंपर दृष्टि डालकर अपनेको निर्धन अनुभव किया करते हैं। तो धनिक उतनेको कहते हैं जितनेसे भूख-प्यास, ठंडी-गर्मी आदिक वेदनाओंसे बचतकी जा सके। तो देखिये हम आप धनिक भी हो गए। धनिक होकर भी अगर इन्द्रियोंकी पूर्णता न हो तो भी वहाँ धर्मपालनके लिए सुविधा नहीं बन सकती। देखिये हम आपको सब इन्द्रियाँ भी मिली हुई हैं। और इन्द्रियोंकी पूर्णता होने पर भी शरीरका निरोग मिलना दुर्लभ है। हम आपको निरोग दशा भी आज प्राप्त है। अब इस गाथामें यह बतलाते हैं कि जिस किसी पुरुषने ये सब बातें पा लीं, निरोग शरीर भी मिल गया, मगर जीवन अल्प मिला तो उससे भी क्या लाभ ? बहुतसे लोगोंका मरण तो छोटा उमरमें ही हो जाता है। अब देखिये हम आपने काफी बड़ी उमर भी पा लिया। अभी तक जीवित हैं तो समझिये कि यह कितनी दुर्लभ-सी बात हो रही है।

संसारमें मनुष्यके सुचिर जीवनपर आश्चर्य मनुष्यके झट मर जानेमें तो कोई आश्चर्य नहीं है, पर बहुत दिनों तक जिन्दा बने रहें इसमें आश्चर्य है। जैसे लोग किसीके मृत्युकी खबर पाकर कहते हैं अरे बड़ा आश्चर्य हो गया, और इसमें आश्चर्य नहीं मानते कि हम अभी तक जिन्दा हैं। आश्चर्य तो इस बातपर होना चाहिए कि हम अभी तक जीवित बने हैं। मरणका क्या आश्चर्य ? जैसे बरसातमें ऊपरसे पानी गिरता है तो नीचे बबूले उठ जाते हैं उनको बच्चे लोग देखते हैं तो वे इस पर बड़ा आश्चर्य प्रकट करते हैं कि देखिये अब तक यह बना हुआ है। बबूलेके फूट जानेका आश्चर्य नहीं करते हैं। और वे बच्चे बबूलेका बना रहना देखकर बड़े खुश होते हैं और वे बच्चे यह मेरा है यह मेरा है ऐसा भी कहते हैं अरे तेरा बबूला मिट गया मेरा अभी तक नहीं मिटा ऐसा भी वे बच्चे कहते हैं। तो जैसे बबूलेके बने रहनेमें आश्चर्य मानते हैं, फूटनेमें नहीं, इसी प्रकार जीवित बने रहनेमें आश्चर्य है, मरणमें कोई आश्चर्य नहीं।

मनुष्यभवमें सुचिर जीवन पानेकी उपयोगिता जब तक हम आप जीवित हैं तब तक कर्तव्य यह है कि कोई ऐसा उपाय बना लें कि जिससे हमें वास्तविक लाभ हो। इन बाहरी बातोंके सम्बंधसे क्या लाभ है ?

आज यहाँ हम आप दिख रहे हैं, आखिर यहाँसे मरण करके परभवमें जाना होगा। तो परभवमें साथ ले जानेके लिए कुछ भले काम करके अच्छी कमाई कर लें, इस बातकी दृष्टि रखें। बाहरी चीजें तो सब यहीं पड़ी रह जायेंगी। अपनी वास्तविक कमाई है धर्मकी, ज्ञानकी। तो उस ज्ञानको, उस धर्मको हम विशेष महत्त्व दें और उसको अपने जीवनमें उतारें। तो इस जीवने यदि निरोग शरीर भी पाया, पर जीवन अधिक न पाया तो क्या लाभ ? और जीवन भी काफी पा लिया पर शील, सदाचार न बनाया, रागका द्वेष मोहादिकका ही काम किया तब फिर वहाँ ज्ञानका, धर्मका क्या अवकाश ? इतना विवेक रखें कि मेरे लिए यह तो करने योग्य बात है और यह न करने योग्य बात है। वहाँ तो इसे कुछ शान्ति प्राप्त होगी, पर जो मनमें सोचा वहीं कर बैठे, क्योंकि शक्ति मिली है ना, पुण्यका उदय भी है, कुछ इज्जत भी मिली हुई है। तो जो सोचा वह कर बैठे, ऐसी मनकी स्वच्छन्दतामें तो जीवनकी सफलता नहीं है। चिरकाल तक यह जीवित भी रहा, पर इसने शीलस्वभाव नहीं प्राप्त किया। तो शीलयुक्त होना यह और भी दुर्लभ बात है।

अह होदि सीलजुत्तो तो विण पावेइ साहु-संसर्गं।

अह तं पि कह वि पावदि सम्मत्तं तह वि अइदुलहं ॥ २९४ ॥

साधुसंसर्ग व सम्यक्त्वामकी दुर्लभता—यह जीव शीलयुक्त भी हो गया, ब्रह्मचर्यसे भी रह रहा, अच्छे आचरणसे रह रहा, कुछ ब्रत भी धारण कर रहा तो भी यह जीव साधु संसर्गको न प्राप्त हुआ। मनमें कुछ बात आयी है सो ब्रत कर रहा है, पर जब तक साधु पुरुषोंका समागम न प्राप्त हो, जो संसार, शरीर, भोगोंसे विरक्त है ऐसे संत पुरुषोंका समागम न प्राप्त हो तो वे ब्रत तप आदिकके लिएकी जाने वाली सारी क्रियायें थोथी रह जाती हैं। भीतर परिणामोंमें उत्कर्षत्व नहीं उत्पन्न होता। तो साधुजनोंका संसर्ग पाना बड़ा दुर्लभ है। इस सत्संगका तो सभी जगह बड़ा महत्त्व दिया है। सत्संग पानेकी कोशिश होना चाहिए और कदाचित् सत्संग भी मिल गया तो सम्यक्त्वकी प्राप्ति अति दुर्लभ है। अपना जैसा वास्तविक स्वरूप है अपने सत्त्वके कारण अपने आपका जो वास्तविक ढंग है वह सहजरूप अनुभवमें न आये उसीको कहते हैं सम्यक्त्व नहीं मिला। तो सम्यक्त्वकी प्राप्ति इतनी दुर्लभ है।

गृहस्थके षट् आवश्यकोंका ध्येय—उस सम्यग्दर्शनको पानेके लिए ही तो ये सब उद्यम किए जा रहे हैं। देवदर्शन, गुरुपासना, स्वाध्याय, आदिक। भगवानके गुणोंका स्मरण करके ज्ञानपद्धतिसे अपने और भगवानके बीचकी बात निरखना। जो भगवानका स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है, पर अन्तर यह आ गया है कि भगवानका उपयोग तो बिलकुल निर्मल है और हम आपका उपयोग रागद्वेष मोहादिकके रंगसे रंगा हुआ है; अर्थात् रागद्वेष मोहादिकके भावोंसे कलंकित हो रहा है। और इसी वीतरागता और सरागताके कारण इतना बड़ा अन्तर हो गया है कि प्रभु तो अनन्त आनन्दमें मग्न रहते हैं और हम आप यहाँ संसारमें जन्म-मरण करते हैं, भटकते हैं। इतना महान अन्तर है इस सम्यग्दर्शनके न होने से। इसपर कुछ विचार करना है कि जिस ढंगमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति होती है। हम गुरुपूजा करते हैं तो गुरुवोंके वैराग्यभावको निरखें, शरीरका क्या निरखना ? इस आत्मामें क्या गुण है, कैसा ज्ञान है, कितनी वीतरागताकी परिणति है। धन्य है इनका जीवन और ज्ञान जो वैराग्यके मार्गमें लगे हुए हैं। इस ज्ञान और वैराग्यके स्वरूपको निहारो, वह सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका कारण बनेगा। तो गुरुजनोंका जैसे तो एक सेवाभाव कुछ धर्मवृत्ति पर ही किया जा रहा है, पर वास्तविकता तो उनके रत्नत्रयकी साधनासे है। गुरुपासना भी रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिए है, स्वाध्याय भी रत्नत्रयकी प्राप्तिके बड़ा अच्छा साधन है। ऋषि संतोंमें वचन इतने

निष्पक्ष होते हैं कि वे निजपरका कल्याण करने वाले हैं उन वचनोंके अन्दर धोखेका काम ही नहीं है। स्वाध्याय, यह भी एक सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका साधक बने, इस ढंगसे अपने आपपर अनेक बातें घटाते हुए स्वाध्याय करें। संयम-इन इन्द्रियोंको संयमित करें, जो भी ये इन्द्रियाँ चाहती हैं उनकी इच्छाके मुताबिक न बह जायें। संयम करना, त्याग करना और जीवोंकी रक्षा करना ये सब संयमके वातावरण भी हमारे निज ज्ञानस्वभावकी अनुभूतिके कारण बन सकेंगे।

धनिकोंमें उदारताका अभाव होनेसे देशमें संकट प्रसङ्ग—यदि उदार पद्धतिसे हम चलें, तप (इच्छा निरोध) करें, दान करें, रागद्वेष, मोहादिक पर विजय प्राप्त करें तो हमारा कल्याण अवश्य होगा। देखिये इसी विवेकके न होनेसे आज देशमें, विदेशमें सभी जगह कम्युनिस्ट पार्टीका उदय हो रहा है। यदि सभी लोग ऐसा सोच लें कि यह धन तो हमें उदयानुसार प्राप्त हुआ है। हमारे उपयोगके लिए जो आवश्यक है वह हम करते हैं पर जो विशेष धन आया हुआ है वह इतने आरामके साधन बढ़ानेमें और इस झूठी इज्जतके बनानेमें यह दुरुपयोग किया जा रहा है। अगर दीन दुःखियोंके उपकारमें धन खर्च किया जाता, और भी धार्मिक कार्योंमें इस धनको लगाया जाता तो आज जो कम्युनिस्ट पार्टी इतनी तेजीसे बढ़ रही है उसका उदय न होता। लेकिन धनिक लोग हो गए कृपण। सिवाय अपने विषय आराम बढ़ानेके और किसी परोपकार आदिके काममें धन लगाते नहीं, तो फिर जिनके पास धन नहीं है वे कहाँ तक इस बातको देख सकेंगे। उनका यह दृष्य न देखा जायेगा। हाँ अगर धनिक लोग परोपकारमें अपने धनका व्यय करते न कि भोगविषयों में, तब तो फिर वे ही निर्धनजन उनके कृतज्ञ होते। इन तप, दान आदिक कार्योंसे आत्माकी शुद्धि होती है, परम्पराय ये सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कारण भी हो सकते हैं तो इन सब कार्योंके करते हुएमें विवेक होना चाहिए।

ज्ञानार्जनके अनुद्यमका चित्रण—अब देखिये किसीकी उम्र तो ६०-७० वर्षकी हो गयी पर देखनेमें यह आता है कि इतनी उम्र बीत जानेपर भी अभी वैसेके ही वैसे हैं जैसे कि १० वर्षकी उम्रमें थे। सारे जीवनभर धर्म भी किया फिर भी ज्योंके त्यों हैं। याने जितनी समझ १० वर्षकी उम्रमें होती थी उतनी ही अब भी है। एक लाइन भी उससे अधिक समझ नहीं बनी। तो बतलाओ क्या किया धर्ममार्गमें? जीवनभर परद्रव्योंका संचय करनेकी ही धुन बनी रही, परद्रव्योंसे रागद्वेषकी ही बात बनी रही, परसे सब व्यर्थकी बातें हैं जिनमें कि कुछ भी तत्व नहीं हैं। जो असली चीज थी ज्ञानार्जनकी, उसके लिए तो दो-चार मिनटका भी समय नहीं लगाया जा सकता। सम्यक्त्वके पुरुषार्थकी बात क्या कहें। सम्यक्त्वकी प्राप्ति अतिदुर्लभ है। सब कुछ मिला, पर एक सम्यक्त्वलाभ न मिला तो समझिये कि कुछ भी न मिला। यह अंधकारमय संसार है। यदि यहाँ जन्ममरण ही करते रहे, उसीमें ही बेसुध रहे तो फिर मिला क्या? कुछ भी नहीं। जिस उपायसे शान्ति मिलती है वह उपाय मिले तो समझिये कि हमने कुछ पाया। तो सम्यक्त्वकी प्राप्ति अतिदुर्लभ है। यदि सत्संग भी मिले, पर सम्यक्त्व न मिले तो यह कुछ लाभकी चीज न हुई। सम्यक्त्वलाभ दुर्लभ चीज है।

सम्मत्ते वि य लब्धे चारित्तं णोव गिण्हदे जीवो।

अह कह वि तं पि गिण्हदि तो पालेदं ण सक्केदि ॥ २१५ ॥

सम्यक्त्वलाभ, चारित्रग्रहण, चारित्रपालनकी उत्तरोत्तर दुर्लभता—सम्यक्त्वकी प्राप्ति दुर्लभ है। इससे पहिले जितनी दुर्लभ बातें बतायी गई थीं वे सब हम आपको मिली हुई हैं। साधुओंका संसर्ग भी होता ही रहता है। सदाचार भी यथायोग्य सबके हैं। जीवन भी पर्याप्त मिला हुआ है, यों सारी बातें हम आपको मिली भई हैं।

अब सम्यक्त्वकी प्राप्तिकी जो चर्चा है बस इसके बाद सभीने घुटने टेक दिए। सम्यक्त्व नहीं मिला। और मिला भी है सम्यक्त्व किसीको, पर वह जीव चारित्रिको ग्रहण नहीं करता। प्रथम तो सम्यक्त्व प्राप्त हुआ भी या नहीं, इसका भी कुछ निर्णय नहीं दिया जा सकता। अपनी ख्याति लाभकी वजहसे भी ऐसा कहा जा सकता है कि हमें सम्यक्त्व हो गया है। और, किसीके वास्तवमें सम्यक्त्व हो तो चारित्रिक ग्रहण नहीं करता। जिसके सम्यक्त्व हो गया उसके चारित्रिक तो कुछ न कुछ हो ही जाता है। उसके ऐसा भाव बन जाता है कि हमें संयमसे रहना चाहिए। करते हैं संयम मगर विशेषरूपसे चारित्रिको ग्रहण नहीं कर पाते। तो चारित्रिक सम्यक्त्वसे भी दुर्लभ हो गया। और कदाचित् चारित्रिका ग्रहण करते हैं तो उसका पालन कर सकनेमें असमर्थ हो रहे हैं। यह सब भीतरी भावोंकी बात कही जा रही है। ऊपरी चारित्रिका पालन तो आवेशवशी भी हो सकता है, मगर अन्तरङ्गमें यह आत्मा अपने ज्ञानस्वरूपमें रमण करे, इस प्रकारकी भीतरमें धुन हो जाना यही है वास्तविक चारित्रिका मूल। तो इसकी धुन नहीं होती है आपने आपमें रम जानेमें। तो सम्यक्त्व प्राप्त होने पर भी चारित्रिका ग्रहण दुर्लभ है और चारित्रिक प्राप्त हो जाने पर भी उसका पालना कठिन हो रहा है।

रयणत्तये वि लब्धे तिव्व कषायं करेदि जइ जीवो ।

तो दुग्गईसु गच्छदि पणट्ट-रयणत्तओ होउं ॥ २९६ ॥

रत्नत्रय प्राप्त होनेपर भी तीव्रकषाय हो जानेपर रत्नत्रयके विनाशकी व दुर्गतिगमनकी विडम्बना किस्सी जीवको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रिक प्राप्त हो गया, कषायोंका उपशम विशेष होनेसे ढंगसे भी प्राप्त हो गया। तब किसी समय यदि ऐसा उदय आये कि यह जीव तीव्र क्रोध कर जाये तो दुर्गतियोंका पात्र होता है। कथानकमें आया है कि द्वीपायन मुनि जो नेमिनाथ स्वामीके समयमें हो गए उनके जब समवशरणमें यह ज्ञानकी बात प्रकट हुई कि द्वारिका नगरी १२ वर्षके बाद भस्म होगी तो इनके ही कारणसे भस्म होगी तो उन्होंने उस नगरीको छोड़ दिया, और बहुत दूर चले गए। अब जब १२ वर्ष गुजर गए द्वीपायन मुनिने अपने हिसाबसे सोचा कि अब तो चलना चाहिए नगरीमें, सो अपनी समझके अनुसार १२ वर्षके अन्तमें वे चले आये। वह १३ माहका वर्षथा (१३ माहका भी वर्ष होता है) उस बीच राजाओंने सब शराब फिंकवा दी थी, क्योंकि उस शराबके कारण सभी लोग मतवाले हो रहे थे। समझ लिया गया था कि इस शराबके कारण द्वारिकापुरी भस्म होगी। अब वह शराब कहीं फेंक तो दी गई थी, किन्तु पानी बरसनेसे वह शराब पानीसे मिश्रित हो गयी थी। १२ वर्ष पूरे जानकर वही द्वीपायन मुनि उसी द्वारिका नगरीके उद्यानमें पहुंचे। वहाँ पर जो शराब बिखेरी गई थी उससे मिश्रित जल पीनेसे वहाँके कुछ लोग मतवाले हो गए थे। सो लोगोंने द्वीपायन मुनिपर ढेला पत्थर मारना शुरू किया। उन द्वीपायन मुनिको तैजस ऋद्धि थी, सम्यग्दर्शन भी था, आत्माका रत्नत्रय भी प्राप्त था, मगर उन्होंने सोचा कि देखो ये दुष्ट लोग व्यर्थ ही हमें सता रहे हैं सो ऐसा क्रोध उपजा, निश्चय कर लिया कि मैं इन्हें भस्म कर दूँ। इतना विचार करते ही उनके बायें कंधेसे तैजसका पुतला निकला, उससे सारी द्वारिकानगरी भस्म हो गयी और खुद भी भस्म हो गये। तो यहाँ यह बतला रहे हैं कि रत्नत्रय भी प्राप्त हो जाये तो भी यदि यह जीव तीव्रकषाय करता है तो इसे दुर्गतियोंमें जन्म लेना होता है। तब फिर रत्नत्रय कहाँसे होगा ?

तीव्रकषायसे हानियाँ जानकर अपने कर्तव्यका निर्णय इस प्रसंगमें अपने जीवनमें इतनी शिक्षा लेना चाहिए कि तीव्र कषय अशान्तिको ही बढ़ाने वाली चीज है। सो तीव्र कषाय न करें। कभी कभी तीव्र क्रोध भी जग जाता हो, पर उसमें ऐसी गाँठ न लगायें कि हम इस व्यक्तिको बरबाद करके ही रहेंगे। घमंड होना तो

मनुष्योंमें प्रधानतासे बताया ही गया है। देवगतिके जीवोंमें लोभकषायकी प्रधानता है और नरकगतिके जीवोंमें क्रोधकी प्रधानता है, तिर्यञ्चोंमें मायाचारकी और मनुष्योंमें मानवकषायकी प्रधानता है। पर मनुष्य तो मानो इन चारों गतियोंके प्रत्येक कषायका प्रतिनिधित्व रखना चाहता है (हँसी) याने क्रोध, माया, मान, लोभ आदिक सभी कषायें इन मनुष्योंमें बड़ी तीव्रतासे पायी जा रही हैं। इन तीव्र कषायोंके ही कारण इस जीवको अनेक प्रकारके दुःख सहन करने पड़ रहे हैं। किसीने किसीको दुर्वचन बोल दिये तो उसका फल तो बुरा ही होगा। उसी समय बुरा हो जाये समय कुछ समय बाद हो जाये। और कर्मबन्ध होनेसे तो भविष्यमें बुरा होनेका ही है। तीव्र कषाय इन जीवनमें अशान्ति उत्पन्न करती है, अतः मेरे कोई कषाय मत रहो ऐसी भावना रखना चाहिए। तो यह जीव इतनी कठिन-कठिन चीजोंको पार करके आज मनुष्य पर्यायमें आया है। इतनी ऊँची बातें प्राप्त करने पर भी यदि इन बातोंकी उपेक्षा कर दी तब तो फिर उसी जन्म-मरणके चक्रमें पड़ना होगा। इन तीव्र कषायोंसे इस जीवका घात है, पाया हुआ ज्ञान भी खतम हो गया। अवधिज्ञानमें बताया है कि किसी जीवको जिस समय अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह उस जगहको छोड़नेके बाद दूसरी जगह पहुँच गया तो अवधिज्ञान रहे भी, न भी रहे। कोई अवधिज्ञान इतना कमजोर है कि जिस जगह रहते हुए अवधिज्ञान हुआ वह स्थान छूटा तो अवधिज्ञान छूटा। तो इस बातमें हुआ क्या कि उपयोग बदल गया। अब उस उपयोगके बदलनेसे जो कषाय विशेष बनी तो पाया हुआ ज्ञान भी खतम हो जाता है। तो तीव्र कषायमें ज्ञानकी बरबादी है। अशान्ति उत्पन्न होती है, लाभ कुछ नहीं मिलता। तो मंदकषायपूर्वक जीवन बिताना यह भी एक अपने लिए बहुत बड़ी देन है।

**रयणु व्व जलहि-पडियं मणुयत्तं तं पि होदि अइदुलहं।
एवं सुणिच्छइत्तां मिच्छ-कसाये य वज्जेह ॥ २९७ ॥**

मनुष्यत्वलाभकी दुर्लभता जानकर मिथ्यात्व कषायके परिहारका कर्त्तव्य जैसे समुद्रमें गिरा हुआ रत्न फिरसे मिले यह बहुत दुर्लभ बात है इसी प्रकार मनुष्य पर्याय भी अति दुर्लभतासे प्राप्त होती है। जब जीवोंकी हम दृश्यमान अनेक स्थितियोंपर दृष्टिपात करते हैं तो अपनी मनुष्यजनकी सफलताका भली प्रकार बोध होता है। कीड़ा, मकौड़ा, स्थावर, पशु पक्षी आदिके कितने ही प्रकारके दुःखोंको हम देख ही रहे हैं। उनको देखकर पता पड़ता है कि वास्तवमें हमें आज जो मनुष्यभव मिला है वह अत्यन्त श्रेष्ठ और दुर्लभ मिला है, तो मनुष्यपना पाना अति दुर्लभ है ऐसा निश्चय करके अब करना क्या है? मिथ्यात्व और कषायोंको छोड़ें। मनुष्य होकर अगर मिथ्यात्व और कषायोंमें लगे रहे तो मनुष्य होना न होना बराबर है। लाभ क्या मिला, विषयोंका सुख तो पशुपर्यायमें रहते वहाँ भी मिलता, मनुष्य हुए तो यहाँ भी मिल रहा। उसमें कोई विशेषता नहीं है। विशेषता यह है कि मिथ्यात्व और कषाय इनको छोड़े। प्रभुकी रोज पूजन वंदना करने आते हैं तो क्यों आते हैं? मिथ्यात्व कषाय उनका सब नष्ट हो चुका है इसी कारण उनका सर्वस्व प्रकट हुआ है। तो भगवान सर्वज्ञ हुए हैं इसका तो प्रधान महत्व नहीं समझते, अरे किसीने थोड़ा जाना किसीने बहुत जाना, वह एक स्वाभाविक गुण है, हुआ ही है ऐसा, किन्तु उनको जो आनन्द प्रकट हुआ है और सदाके लिए कल्याणमय है, परमशिव हुए हैं वे वीतरागताके कारण ऐसे हुए हैं। रागद्वेष अब नहीं रहा इस कारणसे उनकी महत्ता है, सर्वज्ञता हो न हो, ऐसा तो होता नहीं कि न हो, लेकिन सर्व जान लेनेसे हमको इष्ट नहीं विदित होता, जान लिया सब। क्या हुआ, अरे भगवान न जानते सब और हम आप रागी लोग जानते सब तो उससे क्या फायदा? और, यहाँ हम आप अगर सब जान लेते तो बढ़िया व्यापार करते। जान लेते कि इस चीजका भाव बढ़ जायेगा, इसका कम हो जायेगा तो उसीके हिसाबसे व्यापार करके लाभ

उठा लेते। (हँसी) तो देखिये जिनको जाननेकी जरूरत है वे जानते नहीं और जिनको जाननेकी कुछ जरूरत नहीं वे सब कुछ जानते हैं। जानना इसकी कोई महिमा नहीं है, महिमा है वीतरागता की। उनके रागद्वेष न रहा, जो भिन्न औषाधिक चीज थी, बाहरी बात थी, न रही, ठीक है। रहेगी कैसे? उसकी क्या महत्ता? महत्ता तो गुण विकासकी है, सर्वज्ञताकी है तो ऐसी सर्वज्ञता मिथ्यात्व कषायके दूर होनेसे प्रकट होती है। तो यह काम करनेका है।

मिथ्यात्वकी परिहार्यता भैया! एक निर्णय रख लो। ये बच्चे लोग साथी न बनेंगे, जिनमें हम झूठी इज्जत समझते हैं कि इसमें हमारा सब कुछ बड़प्पन है, वे लोग साथ न दे देंगे। परिवारका कोई साथी न होगा। साथ देने वाला है तो हमारा विशुद्ध परिणाम है। भली प्रकार भीतरमें निश्चय कर लो और इस निश्चयके अनुसार अपना आश्रय बनाकर कुछ उसका प्रयत्न कर लो तो मिथ्यात्व और कषायको छोड़ें। मिथ्यात्व वह कहलाता है कि जो बात जैसी नहीं है उसको उस प्रकार मानें। यह देह अपना नहीं है पर इसे मानें कि यह मैं हूँ तो यह मिथ्यात्व है। परिजन परिवार मैं नहीं हूँ लेकिन उन्हें मानें कि यह मैं हूँ, ये मेरे हैं यह मिथ्यात्वभाव है। भीतरमें जो रागद्वेषादिक कल्पनायें उठ रहीं हैं, सुख-दुःख उत्पन्न होता है यह भाव भी मेरा स्वरूप नहीं है, पर इन सबमें यह मोही जीव एकमेक हो रहा तो यक उसका मिथ्यात्व है। इस मनुष्यपर्यायको पाया है तो मिथ्यात्वके नाश करनेका उद्यम करें। धन वैभव जोड़नेके लिए सभी लोग रात दिन जुटे हुए हैं। जिनका उदय अनुकूल है थोड़ेसे श्रमसे बात बन जाती है और जिनका उदय प्रतिकूल है वे कितना ही श्रम करें तो उससे सिद्धि कुछ नहीं होती। तो जब हमारे भावके साथ जिसका अविनाभाव आज नहीं, मैं सोचूँ कि धन आ जाये, जब ऐसा नियम नहीं है तो उसके प्रति क्यों इतनी अधिक उमंग रखते? इतनी दृढ़ता रखना चाहिए कि जो कुछ आना है वह उदयानुसार आयेगा, और जो आयेगा उसीमें अपनी व्यवस्था बना लेंगे। और अपना अधिकाधिक समय ज्ञानार्जन और आत्मसाधनामें लगायेंगे। काम यह एक ही करना है। परको अपना मानना, परको स्वयं यह मैं हूँ ऐसा समझना, रागद्वेष सुख दुःख आदिक परिणामोंको आत्मा मानना, इन सब मिथ्यात्व भावोंका त्याग करें। जब आगे कुछ रहना नहीं है, सबका बिछोह होगा तब फिर किसी भी परपदार्थसे क्या मोह करना ? वहाँ इतना साहस बनानेकी जरूरत है, कि मेरे ये कुछ नहीं हैं। उनकी ओरसे तृष्णा कम करें और ज्ञानसाधनामें अपना चित्त विशेष लगायें तो जीवन सफल होगा, नहीं तो सभी लोग जन्मते हैं और मरते हैं। तो इन कषाय भावोंका त्याग करें, इससे ही इस नर-जीवनकी सफलता होगी।

कषायोंकी परिहार्यता कषायें ४ प्रकारकी होती हैं क्रोध, मान, माया, लोभ। और ये चारों चार चार तरहकी होती हैं। कोई विकट क्रोध करता है और कोई हल्का। कुछ और हल्का है, कुछ बिल्कुल ही हल्का है, जिन्हें कहते हैं अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। ऐसी कषाय जो दूसरे भवमें भी साथ जाये। वह अनन्तानुबंधी कषाय कहलाती है। प्रायः संसारी जीवोंमें अनन्तानुबंधी कषाय बसी हुई है। किसीसे कुछ भी अपना बिगाड़ समझमें आया तो उसका सर्वस्व विनाश करनेके लिए तुल जाते हैं। बताइये उससे लाभ क्या मिलता ? लोग तो कहते हैं कि आजकल सज्जनताका जमाना नहीं है, लेकिन उनका यह कहना झूठ है। अरे सज्जनता कोई करते ही कहाँ हैं ? हाँ थोड़ासा ऊपरी ऊपरी दिखावटी सज्जनता करते हैं, परिणाम यह होता है कि फल उन्हें जो मिलना चाहिये था उसका उल्टा मिलता है। अरे सही ढंगसे कोई सज्जनता बर्ते तो फिर देखिये उसको लाभ मिलता है कि नहीं। सज्जनता करनेसे लौकिक लाभोंसे भी वंचित न रहेगा। तो कषायें मत करें। कोई पुरुष अपना विरोधी हो और उसके प्रति सज्जनता बर्ती जाये, हृदयसे उपकार करनेके भावसे उसके प्रति

सज्जनताका व्यवहाकर किया जाये, अगर ऐसी विशुद्ध उत्पन्न हो तो उस विरोधीके हृदयमें भी फर्क आ जायेगा, लेकिन लोग सही ढंगसे सज्जनता बर्तते नहीं हैं और दोष देते हैं जमानेका कि आजकल सज्जनता बर्तनेका जमाना नहीं है। तो क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों कषायें अन्तानुबंधी भी होती है, जिनका संस्कार, वासना परभव तक साथ जाता है। इन कषायोंको छोड़ें तो सम्यक्त्व उत्पन्न हो जायेगा। अपना जो आत्माका सहजस्वरूप है उस स्वरूपका अनुभव होगा और उनको जो विशुद्ध आनन्द प्रकट होगा उसके अनुभव द्वारा यह जान लेंगे कि संसारके भी पदार्थमें राग करनेमें आनन्द नहीं है। रागमें आनन्द कैसे होगा ? राग खुद दुःखका अविनाभावी है। जहाँ राग परिणाम हो रहा वहाँ तुरन्त क्लेश हो रहा, राग स्वयं क्लेश रूप है। तब राग करके आनन्दकी आशा कहाँ की जा सकती है ? तो अनन्तानुबंधी कषाय मिटे वहाँ आत्माको अपनी सुध हो जाती है। फिर इसके बाद अप्रत्याख्यानावरण और और छोटी कषायें उन सबको दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ यह बतला रहे हैं कि ऐसा मनुष्यजन्म पाया है जो अतिदुर्लभ है, तो इस मनुष्यजन्म पानेकी सफलता इसमें है कि मिथ्यात्व और कषायका त्याग कर दें।

लौकिक वैभवके अर्जनके लक्ष्योंकी सारहीनता □ लोग धन वैभवके संग्रहके लिए इसीलिए तो मरे जा रहे हैं कि उन्होंने दो बातें सोची हैं वैभव बढ़ानेके प्रयोजनमें एक तो यह कि दुनियामें हमारी इज्जत बढ़ जाये। बड़े-बड़े समारोहोंमें आगे लोग बैठायेंगे और अनेक जलसोंमें सभापति बनाये जायेंगे, वहाँ हमें प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। लोग भी समझ जायेंगे कि यह हैं धनिक पुरुष। तो एक तो इज्जत बढ़ेगी इस ख्यालसे धनवृद्धिमें जुटे हैं। दूसरा ख्याल यह बन जाता है कि हमारे बाल-बच्चे सब अच्छी तरह सुखमें रहेंगे, इनको धनी बना दें और ये सुखी रहें, इससे हमारा आत्मा भी शान्त रहेगा। मगर दोनों ही प्रयोगजनोंपर विचार तो करो। दुनियाके लोग हमारी इज्जत करेंगे। तो पहिले तो वे दुनियाके सभी आदमी अपनी ही इज्जत सम्हाल लें। मरकर पशु-पक्षी न बनें। यहाँ पर ही अनेक अज्ञान अंधकार उनके न रहें तो वे क्या अपनी ऐसी इज्जत सम्हाल सकने काबिल हैं ? नहीं। अरे वे खुद जन्म-मरण करने वाले हैं, स्वार्थी हैं, कषायोंसे भरे हैं, मिथ्यात्वसे भरपूर हैं, ऐसे इन न कुछसे जीवोंसे कुछ थोड़े-से शब्द प्रशंसाके सुननेको मिल जायें ऐसी चाह करना कितनी बड़ी कुबुद्धि है ? क्या मिलता है ? कबसे हम मनुष्यजीवनमें आये हैं ? इससे पहिले हम क्या हुए होंगे उसकी कुछ आज सुध नहीं है। इस थोड़ेसे जीवनके लिए यशकी क्या चाह करना ? इस जीवनमें ही उस यशसे लाभ क्या पाया ? और, आगे भी उससे क्या लाभ मिल जायेगा ? वर्तमानमें भी लाभ नहीं है। अगर कुछ स्वार्थीजनोंने इज्जत कर दी तो इज्जतकी चाह रखने वाले ये पुरुष उन जीवोंके आनन्द और आरामके लिए कितना कष्ट सहते हैं ? यह किसका फल है ? थोड़ीसी इज्जत बोल देते हैं तो इसके फलमें इसे कितना क्या और देना होगा सो यह बड़े संकटकी बात है। दूसरी बात यह कि बाल-बच्चे सुखसे रहेंगे, धनिक रहेंगे इसलिए बहुत धन कमाकर रख जाना चाहिए। सो ये भी असार बातें हैं। कितना ही कोई कमाकर रख जाये, उनका उदय पुण्यका नहीं है तो थोड़े ही दिनोंमें वह सारा धन समाप्त हो जायेगा। और, आप कितना ही कमाकर धर जायें वह सब थोड़ा है, उनका अगर पुण्य अनुकूल है तो वे उससे हजार गुना कमा लेंगे। और, इसी सम्बंधमें दूसरी बात यह समझें कि कल्पनासे मान लिया कि ये मेरे पुत्रादिक हैं। इनके लिए हमें धन अर्जित करके रख जाना चाहिए, तो वे हैं क्या इसके ? मरणके बाद वे क्या सुखमें निमित्त हो सकते हैं ? कुछ बात भी पूछ सकेंगे क्या ? ये सब किसी काम न आ सकेंगे ? और जीवनमें भी काम नहीं आते। बच्चोंकी सेवा करते-करते जिन्दगी बिता डालो तो उससे इस आत्माको लाभ क्या मिला ? सभी लोग अपने-अपने अनुभवसे पूछ लें।

गृहस्थीकी परिस्थितिमें मनुष्यका कर्तव्य—गृहस्थीमें कर्तव्य केवल एक यही है कि जब गृहस्थ हैं तो इस नातेसे कुछ समय व्यापार करना या सेवा सुश्रुषा आदिकके जो काम करने हों सो करें, परिस्थिति है। फिर उदयानुसार जो कुछ प्राप्त हो उसमें ही अपनी व्यवस्था बनालें और जीवको इतना निरपेक्ष रखें कि इसे धर्मसाधनामें लगायें। यह काम अगर किया जा सका तो दुर्लभ मनुष्यजीवन पानेकी सफलता है, नहीं तो जैसे कीड़ा-मकोड़ी पशु-पक्षी आदिक बने ऐसे ही मनुष्य बन गए। उससे लाभ क्या उठाया ? तो अतिदुर्लभ मानवजीवनको पाकर कर्तव्य यह है कि मिथ्यात्व और कषायको छोड़े। मनने करें अपने स्वरूपका। मैं हूँ। हूँ ना, न होऊँ तो यह बड़े मजेकी बात होगी। असत्में सुख दुःख क्या होगा, पर ऐसा है कहाँ ? मैं तो हूँ, अस्तित्वका अभाव कहाँसे होगा ? मैं हूँ तो किसी न किसी अवस्थामें रहता हूँ। अब शान्तिवाली अवस्था चाहिए तो उसका उद्यम करना होगा। अशान्ति और क्लेशकी अवस्थायें तो हो ही रही हैं। अपना जैसा स्वरूप है वैसा शुद्ध जान लेंगे केवल ज्ञानमात्र स्वरूप है हमारा। इसमें कोई दूसरी चीज मिली हुई नहीं है। रागद्वेष जो हममें आते हैं तो पर-उपाधिके सम्बन्धमें आ रहे हैं। मेरे स्वभावमें राग नहीं पड़ा है। मेरा सहजस्वरूप तो सिर्फ ज्ञानमात्र है। तो ऐसा ज्ञानमात्र मैं अपने स्वभावसे हूँ, सहज हूँ, उसकी सुध ली जाये तो यह मनुष्यजन्म और श्रेष्ठयजन्म और श्रेष्ठभवका पाना सफल हो जायेगा। और, यदि विषय कषायोंमें ही लगे रहे तो मनुष्यजन्मके पानेका क्या फायदा ? तो दुर्लभ मनुष्यजन्म पाकर हे कल्याणार्थी जनों! मिथ्यात्व और कषायोंका परित्याग करें। किसीने कुछ उल्टा-सीधा कह दिया तो यहाँ आगबबूला हो गए। ऐसा कह क्यों दिया इसने ? मैं तो इससे बदला लूँगा। यह सब क्या है ? अंधकार है। भीतरमें निर्णय तो स्वच्छ रखना है। भले ही गृहस्थीमें अनेक प्रसंग ऐसे होते हैं कि उनका अगर प्रतिकार न किया, उचित ढंगसे उनकी अक्ल ठिकाने न लाये तो सम्भव है कि ये बहुत दिनों तक हैरान करेगे। और, प्रथम तो बात यह है कि न उसकी अक्ल ठिकाने लायें और समता रखें, व सबके हितकी बात सोंचे तो भी गृहस्थीमें गुजारा चल जायेगा, और इसके लिए तो बड़ा साहस करना होगा। भले ही अल्प साहसकी बात बने, मगर निर्णय शुद्ध रखना चाहिए। जगतमें अनन्त जीव हैं, कोई किसीका इष्ट मीत नहीं। यह जीव अपने विचारमें, पर्यायमें, उपयोगमें नाना प्रकारकी कल्पनायें, चेष्टायें करता है तो वह अपने सुखके लिए करता है, उसके विरोधके लिए नहीं करता। यह तथ्यकी बात है। कोई भी शत्रु हो, विद्वेषी हो वह जो चेष्टायें करेगा उसके प्रति वह उसके विरोधके कारण न करेगा, किन्तु उसे सुख-शान्ति इस बातमें जँच रही है तो अपनी ही सुख-शान्तिके लिए करेगा। अतएव कोई विरोधी नहीं।

मिथ्याज्ञानके अभावमें आकुलताका अभाव—भैया! निर्णय यथार्थ रखना चाहिए। जिसके बलसे ऐसी वृत्ति जगेगी कि जीव आकुलता न पायेगा। जितनी आकुलता होती है वह मिथ्याज्ञानसे होती है। अब यहीं देख लो चीज जो कुछ भी मिली है वह सब मिट जायेगी, लेकिन खुदको जो मिला है बाह्य समागम, उसके प्रति ख्याल ला देंगे कि कितना बेहोश हो रहा है। जो मिला है वह मिटेगा, पर खुदको जो मिला है वह भी मिटेगा, ऐसी कल्पना तक नहीं करना चाहते। याने अनित्य चीजको नित्य मान रहे हैं। मिथ्याज्ञान हो रहा है इसीका ही क्लेश है। अगर अनित्यको अनित्य मान लिया जाये, जिस घरमें रहते वह भी छूटेगा, जिस देहमें रहते वह भी मिटेगा, जो समागम मिले हैं वे सब असार हैं, आदिक बातें अगर मान ली जायें तो यहीं उसका बहुत-सा क्लेश मिट जायेगा। और इतना तो निश्चित है कि जब धन वैभव परिजन आदिकका वियोग होगा तो यह ख्याल करने लगेंगे कि लो जो हम जानते थे सो ही हो गया। हम पहिलेसे जान रहे थे कि यह मिटेगा तो देखिये जो बात जान

रहे थे वही बात सच निकली। कोई आदमी किसी बातको पहिलेसे बता दे कि देखो ऐसा होगा। तो वैसी बातके हो जानेपर वह शानसे कहेगा कि मैं तो इसे पहिलेसे जानता था। जो जानता था सो ही हुआ। तो वह उस समय दुःखी नहीं होता बल्कि खुशी मानता है। अगर अनित्य पदार्थ नष्ट हो गए तो ज्ञानी पुरुष उस समय खुशी मानेगा कि देखो जैसा हम समझ रहे थे वैसा ही हुआ। भला जो लोग अनित्यको नित्य समझते हैं तो उसके मिटने पर वे बड़ा खेद मचाते हैं। देखो अचानक क्या हो गया ? अरे अचानक क्या हुआ ? आश्चर्य तो इसमें होना चाहिए जो चीज देर तक (काफी समय तक) बनी रहे। मिटनेका क्या आश्चर्य ? इससे हम सच्चे ज्ञानके द्वारा अपने आपके आत्माकी रक्षा करें, मिथ्यात्व कषायसे दूर रहें, इसमें हम आपके जीवनकी सफलता है।

**अहवा देवो होदि हु तत्थ वि पावेदि कह व सम्मत्तं ।
तो तव-चरणं ण लहदि देस-जमं सील-लेसं पि ॥ २९८ ॥**

देवगतिमें हीन परिस्थिति कभी किसी प्रकार यह जीव देव बन गया, मायने चारों गतियोंमें जो एक देवगति है उसमें आ गया, वहाँ किसी प्रकार सम्यक्त्व भी पाले तो भी इतना तो निश्चित है कि वहाँ तपश्चरण, संयम महाब्रत ये कुछ भी नहीं हो सकते। ऐसी हीन दशा रहती है देवगतिके जीवोंकी। लोग यहाँ घबड़ाते हैं कि कितना उपद्रव हो गया, उपसर्ग हो गया, न जाने अब कैसे क्या होगा ? अरे यह उपद्रव ये उपसर्ग भलेके लिए होते हैं। हम इनमें समता तो करलें, कितने ही कर्मोंका क्षय हो जायेगा। और उस बीच भी हमको कितनी बड़ी शान्ति मिलेगी। क्या सम्पदाके बीच रहकर जीव शान्त हो जाता है ? बहुत-बहुत सुविधायें मिली हों वहाँ भी यह जीव दुःखी रहता है। यह धन-सम्पदा सुखका हेतु नहीं है। सच्चा ज्ञान ही सुखका हेतु है, अतएव उपद्रव भी कदाचित् आयें तो उस बीच भी सम्यग्ज्ञान बनायें और सुखी हों।

**मणुव-गईए वि तओ तणवु-गईए महव्वदं सयलं ।
मणुव-गदीए झाणं मणुव-गदीए वि णिव्वाणं ॥ २९९ ॥**

मनुष्यगतिमें तपश्चरणका अवसर मनुष्यगतिमें ही तपश्चरण संयम, निर्वाण आदि हुआ करते हैं, इस कारणसे चारों गतियोंमें मनुष्यगतिका महत्त्व है। अब कोई यहाँ यह सोचे कि इस कालमें तो मोक्ष होता नहीं तब फिर इस कालमें मनुष्यगतिका क्या महत्त्व? तो ऐसी भी शंका न करना चाहिए, कारण यह है कि वस्तुस्वरूपका हम सही विचार कर सकते हैं और शुद्धज्ञान बना सकते हैं। शुद्धज्ञान वह है जहाँ यह स्पष्ट बोध हो कि प्रत्येक पदार्थकी सत्ता अत्यन्त जुदी-जुदी है और प्रत्येक पदार्थमें बाकी सबका अत्यन्ताभाव है, किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई पदार्थ विकाररूप भी परिणाम जाता है तो वह पदार्थ स्वयं अपनी परिणतिसे विकाररूप परिणामा, इतनी बात वहाँ अवश्य है कि निमित्त भूत पदार्थ होनेपर ही वह परिणामा, तो बात वहाँ क्या होती है कि अनुकूल निमित्तका सन्निधान होनेपर पदार्थ स्वयं विकाररूप परिणाम जाता है। तो यों वस्तुस्वरूपको निरखनेका सामर्थ्य इस मनुष्यभवमें है अतएव मनुष्यभवका बहुत बड़ा महत्त्व है। मनुष्यगतिमें ही तपश्चरण होता है। तपश्चरण १२ प्रकारके बताये गए हैं ६ बाह्य तपश्चरण और ६ अन्तरङ्ग तपश्चरण। जैसे अनशन-भूखसे कम खाना, कुछ अटपट आखड़ी लेकर खाना, रसका त्याग करना, एकान्त स्थानमें मौन बैठना और नाना प्रकारके कायक्लेश करना टंड-गर्मी आदिकके तपश्चरण, ये सब बाह्य तप कहलाते हैं, क्योंकि लोगोंको यह सब दिखता है।

मनुष्यगतिमें अन्तरङ्ग तपकी विशेषता अन्तरङ्ग तप ६ प्रकारके हैं प्रायश्चित्त करना-कोई अपराध हुआ है अब उसका प्रायश्चित्त कर रहे हैं, तो ये बातें दूसरोंको कहाँ दिखती हैं, ऐसा यह भीतरी तप कहलाता है।

विनय विनय नाम हाथ जोड़ने भरका नहीं है, हृदयसे दूसरेके गुणोंमें प्रीति उत्पन्न हो उसका नाम विनय है। अब यह हृदय किसको दिखता है। कहो बाहरमें कोई ऐसी विनय करता हो कि जिसकी कुछ हृद नहीं, किन्तु अन्तःविरोध है, और कोई ऐसा विनय भी होता है कि कहो बाहरसे अधिक विनयकी बात न जाहिर हो सके पर अन्दरसे बड़ा ही विनयपूर्ण भाव हो तो विनय तपश्चरण भी भीतरी भाव है, उसे दूसरा कौन जानता है। तीसरा है वैयावृत्य तप। वैयावृत्य कहते हैं सेवा करने को, लेकिन वैयावृत्यका शब्दार्थ सेवा करना नहीं है, जैसे पैर दाबना आदिक, पर यह तो फलित अर्थ है। वैयावृत्यका अर्थ है कि जो अयोग्य कामसे हट गया हो उसे कहते हैं व्यावृत्त पुरुष। जो अनुचित कार्योंसे हट गया हो। जो संसारसे या मोहियोंके संगसे हट गया है उसका नाम है व्यावृत्त। यह तो वैयावृत्यका फलित अर्थ है, मगर इसका सम्बंध भीतरी भावसे है। स्वाध्याय लोग तो स्वाध्यायका अर्थ लगाते हैं किसी भी पुस्तकको पढ़ लेना, पर स्वाध्यायका यह मौलिक अर्थ नहीं है। स्वाध्यायका अर्थ है अपने आपका अध्ययन करना, याने स्वका जहाँ अध्ययन हो, स्वकी जहाँ दृष्टि हो उसका नाम है स्वाध्याय। तो स्वाध्याय नामका एक तप है। मैं आत्मा क्या हूँ, कहाँसे आया हूँ, मुझे क्या करना है, मेरी क्या गति होगी, ऐसी बातें मनमें रखकर फिर स्वाध्याय करें तो वह अन्तरङ्ग तप कहलाता है। कायोत्सर्ग तप-समस्त बाह्यपदार्थोंसे ममताको त्याग देना निर्ममत्वभावमें ही शान्ति मिलती है। जब रागभावका कुछ उदय होता है तो लोग कहीं शान्ति नहीं पाते, क्योंकि वे देखते हैं अपनेसे बड़ोंको, धनिकोंको। उनको देखकर चित्तमें यह बात आती है कि हाय मैं न हुआ ऐसा, मेरी ऐसी स्थिति क्यों न हुई, लो यही सोच-सोचकर जीवनमें चैन नहीं पाते हैं। आपने देशमें, विदेशमें कहीं भी इस तरहकी वृत्तियोंमें रहकर कोई शान्त देखा हो तो बताओ। दूसरोंका वैभव देखकर मन ही मन दुःखी रहा करते हैं। उस वैभवके संचयके लिए अनेक प्रकारके मायाचार भी करते हैं। यह मायाचार होता है लोभसे। लोभ न हो तो मायाचारका क्या काम ? ये सब बातें तभी होती हैं जब कि रागमोह भाव रहता है। तो मोहका परित्याग करना, ममता छोड़ना यह व्युत्सर्ग तप है। यह भी आन्तरिक तप है। दूसरा कोई क्या जाने कि इसने ममता छोड़ी या नहीं कहो घर द्वार सब कुछ कोई छोड़ दे, पर ममता न त्याग सके। कहो ममताके कारण ही घरबार सब कुछ छोड़ दिया हो। वहाँ कोई यह नियम तो नहीं बना सकता कि इसने ममता त्याग दी हैं। घर द्वारकी ममता त्याग दिया, पर उससे बड़ी ममता अपने चित्तमें बसा लिया। तो ममत्वका त्याग कहाँ किया ? यह बात कोई दूसरा क्या जानेगा ? यह तो खुद ही जान सकते हैं यदि उसने ममताको त्याग दिया तब तो शान्त हो जायेगा नहीं तो दुःखी ही रहेगा। छठवाँ अन्तरङ्ग तप है ध्यान अच्छे तत्वकी ओर, हितकारी तत्वकी ओर अपने मनको लगाये रहना यह ध्यान है। इस ध्यानको कोई दूसरा क्या जान पायेगा ? खुद ही के जाननेमें हो तो हों इसी कारण ध्यान भी अन्तरङ्ग तप कहलाता है। तो यह तप मनुष्यभवमें बनता है, देव तियञ्च आदिक अन्य भवोंमें नहीं बन सकता। देव अनशन ऊनोदर आदिक क्या करेंगे ? उनको तो भोग सामग्री विशेष मिली हुई हैं, वे तो भोगोंमें ही रत रहकर अपनी जिन्दगी बिताते हैं। पर उससे जीवको कुछ फायदा नहीं होता। तत्काल भी क्लेश रहता है और भविष्यमें भी क्लेश रहता है। तो यह अवसर तो मनुष्योंको ही मिला है कि वह तपश्चरण करें। मनुष्यगतिमें ही ध्यान है।

मनुष्यगतिमें निर्वाण व निर्वाणसाधनकी विशेषता—मनुष्यगतिमें ही निर्वाण है, अन्य गतियोंमें ये नहीं बनते। इन्द्र भी द्वादशाङ्गका पाठी है मगर वह श्रुतकेवली नहीं कहलाता। श्रुतकेवली तो निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनि बन सकता है। तो मनुष्य गतिमें श्रेष्ठज्ञान, ध्यान आदिक बनते हैं, किसी अन्य गतिमें ये सम्भव नहीं हैं। निर्वाण भी मनुष्यगतिसे ही होता है। शुक्लध्यान अन्य गतियोंमें नहीं होता। कुछ धर्मध्यान हो जाये मगर रागद्वेष उपयोगमें न

रहे और ऐसा फिर वीतराग भाव प्रकट हो जाये ऐसा ध्यान मनुष्यगतिमें ही हो सकता है अन्यत्र नहीं। दुर्लभ मनुष्यगतिमें दुर्लभ तत्वोंकी प्राप्तिका अवसर जान करके हमें अपने आपमें क्या घटित करना है कि हम कितने ही दंदफंदोंको पार करके आज मनुष्य हुए हैं। मनुष्य हो जाना बड़ी दुर्लभ बात है और उस मनुष्यभवमें भी कितनी ही बातें प्राप्त करलीं, इन्द्रियाँ पूर्ण हैं, धन भी मिला है, खाने-पीने आदिकी सारी सुविधायें मिली हैं, सम्यक्त्व भी प्राप्त है, संयम भी बनाना चाहें तो बन सकता है, ऐसा उच्च कुल भी हम आपको प्राप्त है, सब प्रकारसे समर्थ भी हैं, कैसी दुर्लभ चीजें प्राप्त करली हैं। अब ऐसा अवसर पाकर यदि हमने अपनी सावधानी न बनाया, मनको विषयोंमें ही लगाये रहते हैं तो यह खुदकी बहुत बड़ी गलती है, आगे फिर संसारमें जन्म-मरण करते रहना होगा।

**इय दुलहं मणुमत्तं लहिऊणां जे रमंति विसएसु।
ते लहिय दिव्व-रयणं भूइ-णिमित्तं पजालंति ॥ ३०० ॥**

दुर्लभ मनुष्यत्वको पाकर विषयरमणका अविवेक—ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर भी जो लोग विषयोंमें रमण करते हैं वे मानो यह कर रहे हैं कि दिव्य रत्नको पाकर रसको राखकी जरूरत थी सो उस राखकी जरूरतकी पूर्तिके लिए उस दिव्य रत्नको जला डालते हैं। जैसे किसीको बर्तन मांजनेके लिए राखकी जरूरत है और वह चंदनके बनको काटकर जलाकर राख बनाये तब बर्तन मले तो क्या उसे कोई विवेकी कह सकेगा ? वह विवेकी नहीं है। इसी तरह विषयकषयोंकी पूर्तिके लिए इस मनुष्य जीवनका उपयोग बनाया तो यह उसका कोई विवेक नहीं है। ये विषयभोग क्षणभंगुर चीजें हैं। कुछ इन्द्रिय और मनको सुहा गए, थोड़े समयके लिए हैं, उनमें आसक्त होकर बन्धनमें पड़े तो यह कोई विवेक नहीं है। दूसरेका अविवेक दूसरा जान लेता है पर अपने खुदके अविवेकको नहीं जान पाते। दूसरोंको देखकर लोग कह बैठते हैं कि ये व्यर्थका मोह करके दुःखी हो रहे हैं, पर खुदके विषयमें ऐसा नहीं सोच पाते। वे तो जो काम कर रहे हैं उसे उस समय समझते हैं कि हम बहुत अच्छा कर रहे हैं। बुरे कामको यदि ये बुरा समझें तो यह भी एक ज्ञानप्रकाश है। तो यह जीव खुदके विषयमें नहीं समझ पाता कि मैं मोह कर रहा हूँ, अज्ञान कर रहा हूँ, ऐसा दुर्लभ मनुष्य जन्म पाकर यदि विषयोंमें रमकर बिताया तो समझिये कि दुर्लभ रत्नको पाकर उसे व्यर्थ ही नष्ट कर दिया। देखिये यह कितनी कठिन बात है जो लब्ध्यपर्याप्तकसे निकलकर दन्द्रियपर्याप्तक बने, अन्य स्थावर बने, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय बने। उसमें भी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भी बन गए। अब संज्ञी पञ्चेन्द्रिय बनकर भी श्रेष्ठ मन मिला उत्तम जाति कुल आदिक मिले, सृचिर जीवन मिला, इन्द्रियोंकी परिपूर्णता मिली, सत्संगति मिली, सम्यक्त्व भी जगा, ऐसी दुर्लभ बातें पाकर भी यदि विषयोंकी ओर झुकाव हो तो समझिये कि इस मानव-जीवनको पाकर लाभ कुछ न उठाया। कोई मनुष्य हाथी खरीद ले हजारों लाखों रुपये लगाकर, उसने खाने पीनेमें दसों आदमियोंके खर्च बराबर खर्चा करे, पर उस हाथीका उपयोग करे कूड़ा-करकट ढोनेमें तो भला उसे कोई विवेकी कहेगा क्या ? कोई विवेकी तो न कहेगा। यों ही समझिये कि इतना श्रेष्ठ जन्म पाया जो कि बहुत ही कठिन था और पा करके काम किया विषयभोगोंमें रमनेका, तो उससे क्या लाभ पाया ?

पशुसम जीवनमें नरभवयापनकी उन्मत्तता—अरे इन विषयोंमें तो ये पशु-पक्षी भी रत होते हैं। उन कुत्ता, बिल्ली, कबूतर, मुर्गा, मुर्गी आदिककी योनियोंमें रहकर भी तो ये विषयोंके काम किये जा सकते थे। देखिये उन पशु-पक्षियोंके भी बच्चे होते हैं, मनुष्योंके भी बच्चे होते हैं, वे भी अपने बच्चोंमें मोह रखते हैं, ये मनुष्य भी मोह रखते हैं, तो अब बताइये मनुष्यने विवेकका कौनसा काम किया ? रही एक धन-वैभवके बढ़ानेकी बात तो जितना

उस पशु-पक्षियोंको साधन जोड़नेकी जरूरत है उतना वे जोड़ते ही हैं। हाँ मनुष्योंने उनकी अपेक्षा अधिक लगाव लगाया उन साधनोंमें। पर यह लगाव इस मनुष्यके हितके लिए नहीं है। वह तो अशान्तिके लिए है। जितना अधिक वैभव होता जायेगा उतना ही अधिक अशान्ति बढ़ती जायेगी। उसकी कोई हद नहीं है कि कितना वैभव हो जाये तो शान्ति मिलेगी। रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द आदिकी प्रवृत्तियोंमें ही व्यापार करते हैं। इसी चक्रमें पड़कर यह मनुष्य जीवन लोग व्यर्थ ही गँवा देते हैं, उस तरहसे जैसे कि भस्मके लिए अमूल्य रत्नको लोग जला देते हैं।

इय सव्व-दुलह-दुलहं दंसण-णाणं तथा चरितं च।

मुणिरुण य संसारे महायरं कुणह तिणहं पि ॥ ३०१ ॥

दर्शन ज्ञान चारित्रके अतिरिक्त अन्यमें आदर करनेसे विपत्तिप्रसङ्ग—इस बोधि दुर्लभ भावनाके प्रकरणमें अब तक यह बताया गया है कि सर्वसे अत्यन्त दुर्लभ चीज दर्शन ज्ञान, चारित्र है, मनुष्य भी हो गए और रत्यत्रयकी प्राप्ति नहीं है तो उस मनुष्यभवसे फायदा क्या उठा पाया ? मरे फिर अन्य कुगतियोंमें जन्म मरण करते रहे, संसारका चक्र लगाया, कौनसा वहाँ फायदा लूटा ? तो सर्व दुर्लभसे दुर्लभ है दर्शन, ज्ञान, चारित्र। इस अन्तस्तत्वको यदि पा लिया तो सब कुछ पा लिया। सन्तोष यहाँ ही मिलेगा। बाहरमें कहीं सन्तोष न मिलेगा। कितनी उम्र हो गयी, कितने ही परिजन थे, कितने ही मित्रजन थे, लेकिन आज क्या रहा ? परिजन मित्रजन कितने ही गुजर गए, उनसे मिला क्या ? मुसीबत जिन्दगी भर भोगा, पर उसके एवजमें इसको मिला क्या सो बताओ। मगर मोह इतना विकट है कि मुसीबत भी भोगते जाते हैं और वे ही मुसीबतके काम प्यारे लग रहे हैं। करना पड़े यह बात अलग है मगर इसको भीतरमें उसीसे ही रुचि लगी है। यह सोच ही नहीं सकते कि उससे अलग रहकर हम जिन्दा रह सकते कि नहीं। वे पदार्थ हैं। जिन्दा रहनाका दूसरा कोई साधन नहीं। इसी परिवारमें रहें, राग करें तब तो हमारा जीवन है अन्यथा नहीं, ऐसा व्यामोह पड़ा हुआ है। तो यहाँ ये सभी चीजें धन वैभव आदिक मिलना तो सुलभ है पर एक यथार्थ ज्ञानका मिलना दुर्लभ है। इस सम्यग्ज्ञानके प्राप्त करने वाले बिरले ही लोग हैं। जिसने इस सम्यग्ज्ञानको पाया वह जान लेगा कि यही सर्वस्व है, इसके सिवाय बाकी जगतके समस्त पदार्थ तुच्छ हैं। जिनकी समझमें यह आ गया उनको शान्ति है सन्तोष है, क्योंकि तुच्छ तो है ही, अब उनको समझते हैं कि ये ही मेरे जीवनके अंग हैं, ये ही मेरे सर्वस्व हैं, उनका उपयोग उस ओर झुक गया तो बाह्यपदार्थोंमें जब उपयोग भाव गया तो उसको वहाँ मिलेगा क्या ? वे तो बाह्यपदार्थ हैं, उनका उत्पादव्यय उनमें है, उनका परिणमन उनमें है। उनसे मुझे कुछ मिल तो सकता नहीं तो वहाँ हम दुःखी होते हैं। इतना ही क्यों हुआ, इतना क्यों न हुआ, यों कल्पनायें करके यह जीव दुःखी होता है। देखिये लोकमें दूसरी आफत यह लगी है कि पड़ोसके लोग, देशके लोग धन-वैभवके पीछे बढ़ते चले जा रहे हैं, उन लोगोंके सामने हम आदर नहीं पा रहे हैं, उनकी बातोंको देखकर यह जीव सम्यग्ज्ञानमें टिक नहीं पाता। जैसे जुवारियोंके अड्डेमें जुवा खेलने वाले व्यक्तिको वे जुवारी लोग उठने नहीं देते, अगर वह उठना भी चाहे कि चलो जो पैसे बच गए उनसे ही गनीमत है, पर वे जुवारी लोग यह कहकर कि बस हो गए, इतनी ही दम थी...., उठने नहीं देते। ऐसे ही यहाँ किसीको ज्ञान भी हो जाये और सोचे कि हमें तो ज्ञानमें ही रमण करना है, क्या पड़ी है हमें दुनियाके झंझटोंसे, इन लोगोंसे क्या लेना देना है, मगर लोगोंके बीच रहते हैं सो उनके संगसे प्रायः वह यहाँसे हट ही जाता है। भीतरकी वृत्तिसे वह अलग हो ही जाता है, तो दूसरी आफत यह लगी हुई है।

आदरणीय रत्नत्रयभावमें सम्यक्त्वकी आद्यता—दुर्लभ चीज है दर्शन, ज्ञान चारित्र। ऐसा जान करके इस संसारमें बस इन तीन चीजोंका ही (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र) आदर करें। सम्यक्चारित्र रूप जो

परिणाम है, अपने आपके सहज स्वरूपकी श्रद्धा होना, उस ही सहज स्वरूपका बोध रहना, इसी सहज स्वरूपमें मग्न रहना, यह स्थिति मिले यही सारकी चीज है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी चीज मिल जाये, जुड़ जाये, ढेर हो जाये, वह हमारे हितकी चीज नहीं है, ऐसा सोचकर इस ही रत्नत्रयभावमें महान आदर करना चाहिए, अन्य कोई स्थिति हमारे आदरके योग्य नहीं है। इस प्रकरणमें बताया है कि एकेन्द्रियसे लेकर विकास करते-करते रत्नत्रयकी प्राप्ति पर्यन्त जो हमारा विकास हुआ है यह दुर्लभसे दुर्लभ बात हुई है। अब दुर्लभसे दुर्लभ जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र पाया है इसकी रक्षा करें और इस उपायसे संसारके संकटोंसे सदाके लिए छूटनेकी बात बना लें। सम्यक्त्व क्या है ? तो निश्चयमें तो परद्रव्यसे, परभावसे भिन्न अपनी ही सत्तासे सहज शुद्ध जो चैतन्यस्वरूप है तन्मात्र अपने आपको अनुभवना, मैं यही हूँ, यही है सम्यक्त्व। और व्यवहारमें अष्ट अङ्ग ही सम्यक्त्व है। जैसे ८ अंगोंको छोड़कर शरीर और क्या ? जैसे पीठ, पेट, दो हाथ, एक मस्तक, दो पैर और एक कमरका भाग, जिसपर हम आप बैठे रहते हैं, ये ८ अंग कुछ भी न सोचें तो शरीर और रहेगा क्या ? इन ८ अंगोंका समुदाय ही तो शरीर है। इसी प्रकार व्यवहारमें ८ अंकोंका समुदाय ही तो सम्यक्त्व है और ये ही ८ अंग व्यवहार दृष्टिसे व्यवहार सम्यक्त्व बनते हैं और निश्चय दृष्टिसे निश्चय सम्यक्त्व होते हैं।

अष्टाङ्ग सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान व चारित्रमें आदर करनेकी प्रेरणा [निःशंकित अंग जिनवचनोंमें शंका न करना, जिनवाणीकी बात सर्व प्रमाणीक है, उसमें सदेह न करें, निःशंकित अंग हो गया और निश्चयसे आत्माका जो अजर अमर अजन्मा स्वरूप है, शाश्वत ज्ञानानन्दस्वरूप है उसमें शंका न करना, इसमें कोई नई बात आ ही नहीं सकती, इसमें कोई गड़बड़ होते नहीं, मैं ऐसा अमूर्त चैतन्यस्वरूप हूँ, यही है निश्चयसे निःशंकित अंग। निःकांक्षित अंग धर्मधारण करके भोगविषयोंकी चाह न करना और निश्चयसे कोई भी पदार्थ, कोई भी भाव चाहनेके योग्य नहीं है। किसी भी भावमें लगाव न रखना, एक अपने चैतन्यस्वरूपमें मग्न होनेकी धुन रहे, लो निश्चय सम्यक्त्व हो गया। धर्मात्माओंसे ग्लानि न करनासो निर्विचकित्सा अंग है और अपनेमें जो रागद्वेषादिक भाव होते हैं, क्षुधा तृषा आदिकी जो वेदनायें होती हैं उनका भी विषाद न करना, उनका ज्ञाताद्रष्टा रहना, उनमें अपनेको दुःखी न बनाना यह निर्विचकित्सा भाव हो गया। कुपथको देखकर, कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुको निरखकर उनको भला न मानना, यह श्रद्धान रखना कि सच्चे देव, शास्त्र गुरु ही सारभत है यह अमूढ दृष्टि है। और, निश्चयसे आत्माका जो स्वरूप है उस स्वरूपमें व्यामोह न करना, अर्थात् उसके विपरीत कुछ न समझना, सही सहज स्वरूप जानना अमूढ दृष्टि हो गया। निजगुण व पर अवगुणका ढाकना व्यवहार उपगूहन है, अपने गुणोंका विकास करना और अपने दोषोंको दूर करना अन्तः उपगूहन हो गया। अपनेको व परको धर्ममें स्थिर करना स्थितिकरण है, अपनेमें धर्मकी प्रभावना करना सो प्रभावना अंग है। यों ८ अंगोंका समुदाय वही सम्यक्त्व है और उसीका परिज्ञान करना सम्यक्ज्ञान है। उसीमें उपयोगको रमाना सम्यक्चारित्र है। इनको महत्त्व दें, इनके सिवाय अन्य प्राप्त समागमोंको महत्त्व न दें। दुर्लभसे दुर्लभ रत्नत्रय भाव है उसका साधन पाया तो एकचित होकर रत्नत्रयकी आराधनामें लग जाओ। अपनी अमूल्य निधि अपनेको मिले एकमात्र यही पुरुषार्थ करो।

जो जाणदि पच्चक्खं तियाल-गुण-पज्जएहि संजुत्तं।

लोयालोयं सयल सो सव्वण्हू हवे देवो ॥ ३०२ ॥

धर्ममूल, धर्ममूर्ति व धर्मफल श्री सर्वज्ञदेवका स्मरण [जो आत्मा तीन कालवर्ती गुणपर्यायोंसे संयुक्त समस्त लोकालोकको प्रत्यक्ष जानता है वह सर्वज्ञदेव होता है। यह धर्मानुप्रेक्षा चल रही है। धर्मके सम्बन्धमें ज्ञानी

चिंतन कर रहा है कि धर्मके मूल सर्वज्ञदेव हैं। जितना भी धर्मका प्रसार है, लोगोंको ज्ञान प्राप्त हुआ है उस सबका मूल आधार तो सर्वज्ञदेव है; अर्थात् सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनि सुनकर गणधरदेवने उसका अवधारण किया और गणधरदेवसे सुनकर अन्य आचार्योंने निबद्ध किया और और उनकी परम्परासे यह सब धर्मोंका ज्ञान चल रहा है तो चूँकि धर्मोंके मूलमें सर्वज्ञदेव हैं और साक्षात् धर्मकी मूर्ति सर्वज्ञदेवका स्मरण किया है और उनका लक्षण बताया है। तो प्रभू समस्त द्रव्योंको उनके गुणोंको और भूत, भविष्य, वर्तमानकी सभी पर्यायोंको जानता है उसे सर्वज्ञ कहते हैं। देवका अर्थ है जो परम आनन्द पदमें क्रीड़ा करे उसे देव कहते हैं। देव दिव् धातुसे बना है। जिसका अर्थ है क्रीड़ा करना। जो देवगतिमें जावें वे भी देव हैं, वे इन्द्रिय सुखमें क्रीड़ा करते हैं अतएव वे संसारी देव हैं और सर्वज्ञदेव करते हैं परम आनन्दस्वरूपमें क्रीड़ा, इस कारण उन्हें देवाधिदेव कहते हैं, जो अनन्त चतुष्टयस्वरूप परमात्मतत्त्वमें निरन्तर रमते रहें उन्हें कहते हैं देव। तो ये देव सर्वज्ञदेव ही हो सकते हैं अन्य और कोई जो सर्वज्ञ नहीं हैं वे देव नहीं हो सकते हैं।

वीतरागता व सर्वज्ञतासे ही देवत्वका अभ्युदय—लोकमें जिस चाहेके माननेकी प्रथा चल रही है, किन्तु उनका चरित्र जब सुनते हैं तो वहाँ सर्वज्ञताकी सिद्धि नहीं होती। कभी किसी देवपर विपत्ति आयी तो वह दूसरेकी शरणमें गया, उसने उसे समझाया, तो ऐसी घटनायें जब यहाँ चरित्रमें पायी जाती हैं तो उनसे सिद्ध होता है कि ये स्वयं सबके ज्ञाता न थे तभी ये संकटमें आये। एक कथानक यों बताया जाता कि एक देवताकी स्त्री पर कोई पुरुष मुग्ध हो गया, उसने आराधनाकी देवताकी, वह प्रसन्न हो गया। प्रसन्न होने पर कहा कि मांगो वरदान क्या मांगते हो ? तो आराधकने कहा कि हमको यह वर दीजिए कि मैं जिसके शिर पर हाथ रखूँ वह भस्म हो जाये। तो देवताने कहा अच्छा ऐसा ही हो जायेगा। पुरुषकी नियत तो बदली ही थी। उसने सोचा कि हम इन देवतापर ही हाथ रखें तो ये भस्म हो जायेगे और इनकी स्त्री हमें मिल जायेगी। सो जब वह पुरुष उस पर हाथ रखने चला तो वह डर कर भागा। विष्णुके पास पहुँचा। विष्णुने उसकी छल बलसे रक्षा की। स्वयं उसकी स्त्रीका रूप धारण किया और उस भस्मासुर देवके पास पहुँचा। जब भस्मासुरने उस स्त्रीसे प्रेम करना चाहा तो उसने कहा आप मेरेसे यों न मिलो, हमारे पति जब क्रीड़ा करते थे तो ताण्डव नृत्य करते थे। उस नृत्यमें एक हाथ कमर पर और एक हाथ शिरपर रखा करते थे, आप भी ऐसा ही कीजिए, तब हमसे मिलिये। जब भस्मासुरने एक हाथ कमर और एक शिरपर रखकर ताण्डव नृत्य किया तो वह स्वयं भस्म हो गया। तो इस तरह छल बल करना, इस तरहके दंदफंदमें पड़ना यह कोई भगवानका काम है क्या ? जो सर्वज्ञ होगा वह अपने परम आनन्द स्वरूपमें क्रीड़ा कर सकता है।

देवस्मरणमें कृतज्ञताकी सिद्धि—जो पुरुष जानता देखता है समस्त लोकालोकको प्रत्यक्ष एक साथ वही धर्मका मूल है, धर्मकी मूर्ति है और धर्मका फल है। यहाँ कोई यह आशंका न करे कि साधुजनोंमें जो श्रुतज्ञान (परोक्ष ज्ञान) और एक केवलज्ञान। केवल ज्ञानने समस्त लोक और अलोकको जान लिया और श्रुतज्ञान भी जान लेता है, मगर श्रुतज्ञान जानता है परोक्षरूपसे, एक एक पदार्थको न्यारा करके नहीं। जैसे कोई बड़ा श्रुतज्ञानी हो गया तो वह यों कहेगा कि ३४३ धनराजू लोक हैं और इससे बाहर अनन्त अलोक हैं। परोक्षरूपसे कहा गया, ऐसा स्पष्ट जानता तो नहीं है कि यह जगह यह है, यह जगह यह है, जैसे आँखोंसे कुछ देख लेते हैं इस तरह तो नहीं जानते, मगर केवली भगवान समस्त लोकालोकको स्पष्ट जानते हैं। तो प्रत्यक्ष और परोक्षमें बड़ा अन्तर है। जो प्रत्यक्ष रूपसे समस्त लोकालोकको जान ले वह है सर्वज्ञदेव। तो यों सर्वज्ञदेवके प्रसादसे मिला धर्मका स्वरूप सो

धर्मके फलको साक्षात् समझनेके लिए जो कृतज्ञता जगी, जिनके प्रतापसे हमें धर्मका मार्ग मिला है उनका स्मरण करना ही चाहिए। इस कृतज्ञताके कारण इस गाथामें सर्वज्ञदेवका स्वरूप बताते हुए भाव नमस्कार किया है।

जदि ण हवदि सव्वण्हू ता तो जाणदि अदिदियं अत्थं।

इंदिय-णाणां ण मुणदि थूलं पि असेस-पज्जायं ॥ ३०३ ॥

सर्वज्ञके अस्तित्वकी जिज्ञासा—कोई दार्शनिक ऐसे हैं जो सर्वज्ञको नहीं मानते। उन दार्शनिकोंके प्रति कहा जा रहा है कि यदि सर्वज्ञदेव न हों तो अतीन्द्रिय पदार्थको कौन जानेगा ? इन्द्रिय ज्ञान तो समस्त पर्याययुक्त स्थूल पदार्थको भी नहीं जान सकता। इन्द्रियसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अतीन्द्रिय पदार्थको जानेगा किस तरह ? इससे यह स्वीकार करना चाहिए कि कोई सर्वज्ञ होता है जो कि समस्त अतीन्द्रिय पदार्थोंको स्पष्ट जान लेता है। यहाँ कोई दार्शनिक प्रश्न कर रहा है जो सर्वज्ञ नहीं मानता। कहता है कि सर्वज्ञ नहीं है यह बात तो स्पष्ट सिद्ध है, क्योंकि सर्वज्ञ पाया नहीं जा रहा, अगर हो तो उसे हमें आँखों दिखाओ या उसके पास ले चलो। तो सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि उसकी उपलब्धि नहीं पायी जा रही और किसी भी प्रमाणसे सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता, इस कारण सर्वज्ञकी जबरदस्ती सिद्धि करना युक्त नहीं है। दार्शनिकोंमें जो लोग सर्वज्ञ नहीं मानते उनमें दो ही प्रधान हैं एक मीमांसक और दूसरे चार्वाक। चार्वाक तो एकदम नास्तिक हैं, वे किसी अमूर्त, अदृश्य पदार्थको मानते ही नहीं हैं, उनको जो आँखों दिखे उसे ही मानते हैं। मीमांसक भी जीवको तो मानते हैं, पर इतना ही मानते हैं कि वह क्रियाकाण्ड करके, यज्ञ विधान आदिक करके बैकुण्ठको प्राप्त हो जाये, मगर उस बैकुण्ठकी भी हद होती है जब समय पूरा हो जाता है तो वहाँसे गिरना पड़ता है, फिर संसारमें जन्म-मरण करना पड़ता है, इनके सिद्धान्तमें केवल एक ही ईश्वर है सदा मुक्त, सदाशिव जो कि न कभी संसारी था और न कभी संसारी बनेगा। लेकिन संसारकी सारी विडम्बनायें कराता रहता है। तो मीमांसक दर्शनमें सर्वज्ञको नहीं माना, उनकी ओरसे यह आशंका हो रही है कि सर्वज्ञ तो है ही नहीं, क्योंकि वह दिखता नहीं और प्रत्यक्ष अनुमान आगम आदिक किसी भी प्रमाणसे उस सर्वज्ञकी सिद्धि होती नहीं।

सर्वज्ञत्वकी प्रसिद्धि—जो पुरुष सर्वज्ञ नहीं मानते उनके प्रति समाधानमें कहा जा रहा है कि यदि सर्वज्ञ नहीं होता तो अतीन्द्रिय पदार्थ जो इन्द्रिय द्वारा अगम्य है ऐसे सूक्ष्म देशकालके दूरवर्ती पदार्थोंको फिर कौन जानेगा ? सूक्ष्म पदार्थ तो परमाणु आदिक हैं, सो मीमांसक परमाणु आदिकको मानते तो हैं, पर यह बतलाओ कि जो चीज किसीके द्वारा जानी नहीं जा सकती वह सत् कैसे हो सकती है ? तो सूक्ष्म परमाणु आदिक और अन्तरित पदार्थ याने जो स्वभावसे बहुत दूर हैं, अंतरित हैं, ऐसे जीव पुण्य पापा आदिक इनको कौन जोनेगा ? यदि सर्वज्ञ न हों, मीमांसक मानते तो हैं इसको, जीव भी हैं, पुण्य पाप भी हैं, मगर इनके जानने वाले यदि कोई नहीं है तो फिर ये क्या हैं ? कुछ भी नहीं। यदि सर्वज्ञ न हो तो जीव पुण्य-पाप आदिक को कौन जान सकेगा ? इसी प्रकार कुछ पदार्थ होते हैं कालसे अंतरित याने बहुत पहिले समयमें हुए। जैसे राम रावण आदिक इनकी चर्चा पुराणोंमें चलती है, मगर बहुत काल पहिले ये हुए हैं अगर सर्वज्ञ न हो तो इन्हें जाने कौर और किस तरह इनका चरित्र आज तक चला आ सकता था ? कुछ पदार्थ दूरवर्ती होते हैं जैसे मेरुपर्वत, नकर स्वर्ग आदिक। इन पदार्थोंको भी कौन जानेगा यदि सर्वज्ञ न हो ? यदि सर्वज्ञ न होता तो इन पदार्थोंकी चर्चा आज हो न सकती थी। इससे सिद्ध है कि सर्वज्ञ है, सबका कोई प्रत्यक्ष ज्ञाता है, क्योंकि ये पदार्थ अनुमेय बन रहे हैं। जिस चीजका अनुमान किया जाता हो उस चीजका कोई स्पष्ट जानने वाला भी होता है। जैसे पर्वतमें धुवाँ देख करके यह अनुमान किया कि

इस पर्वतमें अग्नि है धुवाँ होनेसे। तो जब अग्नि अनुमेय बन गयी तो यह भी निश्चित है कि कोई पुरुष उस अग्निको साक्षात् जानता भी है। जो उस पर्वतपर रहने वाला पुरुष होगा और उसके निकट कोई पहुँचा हुआ होगा, वह तो स्पष्ट जान लेता है कि यह अग्नि है। अथवा वही अनुमाता पुरुष निकट जाकर स्पष्ट जान लेगा कि अग्नि है यह तो जो पदार्थ अनुमेय होते हैं उनका कोई न कोई स्पष्ट ज्ञाता होता है। तो जब ये परमाणु जीव पुद्गल, पुण्य पाप, मेरूपर्वत, नरक स्वर्ग आदिक, राम रावण आदि ये सब ज्ञेय बन रहे हैं तो उनका कोई प्रत्यक्ष ज्ञाता भी है, यों सर्वज्ञकी सिद्धि होती है। इन्द्रियज्ञान तो अपने नियत विषयको जानेगा, इन सूक्ष्म पदार्थोंको नहीं जान सकता, और इन्द्रियज्ञान इन स्थूल पदार्थोंको जानेगा सो भी स्थूल पदार्थमें जो जो परिणतियाँ हैं वे सब परिणतियाँ सत् नहीं जानी जा सकतीं। कुछ एक-दो घंटे बात जानेंगी। ये इन्द्रियाँ जिसे जानती हैं उसे भी पूरे तौरसे नहीं जान सकतीं। तब फिर इन समस्य पर्यायों सहित इन लोकालोकवर्ती पदार्थों को सर्वज्ञ ही जान सकता है। इस इन्द्रियज्ञानमें सामर्थ्य नहीं है कि इन पदार्थोंको जान सके। इस प्रकार सर्वज्ञ भगवान का अस्तित्व सिद्ध होता है। अब यह सुनो कि सर्वज्ञदेवने जो उपदेश किया है वह धर्म क्या है? उस धर्मको अंगीकार करने से ही जीवका उद्धार हो सकता है।

तेणुवइड्डो धम्मो संग्गासत्ताण तह असंग्गाणं।

पठमो बारह-भेओ दह-भेओ भासिओ विदिओ ॥ ३०४ ॥

सर्वज्ञोपदिष्ट द्विविध धर्म—सर्वज्ञदेवने जो धर्मका उपदेश किया है वह दो प्रकारके पुरुषोंके लिए किया गया है। एक तो गृहस्थ दूसरे मुनि। जो संगमें रह रहे हैं, संग्गासक्त हैं, परिग्रह रखे बिना जिनका गुजारा नहीं है उनका धर्म बताया है और जो संग-रहित है ऐसे साधुपुरुषोंका धर्म बताया। दो प्रकारके धर्मोंका वर्णन किया है। इस प्रसंगमें यह भी सोच लेना कि दो प्रकारके धर्म चारित्रकी अपेक्षा बताये गए हैं। पर इन दोनों प्रकारके धर्मोंका मूल सम्यग्दर्शन है। सम्यक्त्व न हो तो श्रावकके ब्रत भी धर्म न कहला सकेंगे। और मुनियोंके ब्रत भी धर्म न कहला सकेंगे। तो सम्यग्दर्शनका कुछ वर्णन आगे आयेगा, उससे पहले यह बताया जा रहा कि धर्म गृहस्थोंका और साधुओंका दो प्रकारसे बताया है सर्वज्ञदेवने। जिसमें गृहस्थोंका धर्म तो १२ प्रकारका बताया है और साधुओंका धर्म १० प्रकारका बताया है। १२ भेद हैं एक अविरत सम्यक्त्व व ११ प्रतिमायें। ऐसे १२ भेदों वाला धर्म तो श्रावकका है। इसका वर्णन इसी प्रकरणमें स्पष्टरूपसे किया जायेगा। मतलब यह है कि इन बारह पदोंमें ५ पापाके एकदेश त्याग नहीं तम्यरूपसे। यह तो है गृहस्थोंका धर्म। चँकि वे गृहस्थ हैं सो उनका सर्वदेश त्याग नहीं हो सकता। और मुनियोंका धर्म है उत्तमक्षमा, मार्जव, आर्जव आदिक १० प्रकारके धर्म, उनका पालन। यह है मुनियोंका धर्म। इस प्रकार धर्मके भेदोंकी सूचना करके पहिले श्रावकके जो १२ भेद कहे हैं, उन १२ भेदोंको एक समीचिन पद्धतिसे बतला रहे हैं।

सम्महंसण-सुद्धो रहिओ मज्जाइ-थूल-दोसेहिं।

वय-धारी सामाइउ पव्व-वई पासुयाहारी ॥ ३०५ ॥

राई-भोयण-बिरओ मेहुण-सारंभ-संग-चत्तो य।

कज्जाणुमोय-बिरओ उहिड्डुहार विरदो य ॥ ३०६ ॥

श्रावकके भेदोंमें प्रथम प्रकार—पहिला प्रकार है सम्यग्दर्शनका शुद्ध होना। २५ दोषोंसे रहित शुद्ध निर्मल सम्यक्त्वका जगना यह प्रथम धर्म है। यहाँ बारह भेद बताये जा रहे हैं इस तरह कि ११ तो प्रतिमायें हैं और एक

है सम्यक्त्व। तो सम्यक्त्वको पहिले बताया और ११ प्रतिमायें इसके पश्चात् बतला रहे हैं। यों बारह भेद गृहस्थ धर्मके कहे जा रहे हैं। सम्यग्दर्शन कहते हैं आत्माके सहज स्वरूपके दर्शन होनेको, अनुभव होनेको। मैं वास्तवमें क्या हूँ इसका परिचय हो जाना सो ही सम्यक्त्व है। खुद है और खुद वह है जो अनादिसे है, अनन्तकाल तक रहेगा। पदार्थका स्वरूप पदार्थसे कभी बिछुड़ता नहीं है। जैसे अग्निका स्वरूप गर्मी है। तो गर्मी कभी बिछुड़ती नहीं है। सदा काल रहती है और गर्मी बदल जाये तो अग्नि भी खतम हो जाये। तो यहां तो अग्नि द्रव्य नहीं है किन्तु पर्याय है, अतएव इस तरह कह देते किन्तु पदार्थोंमें पदार्थोंका स्वरूप त्रिकाल भी न्यारा हो नहीं सकता। मेरा स्वरूप वह है जो मेरे सत्त्वके कारण मुझमें पाया जाये। वह स्वरूप है चैतन्यमात्र। उस स्वरूपपर यदि दृष्टि जाये तो जीवकी आकुलतायें सब दूर हो जायें। क्या है? जो मेरा स्वरूप है सो मुझमें रहेगा, सदा रहेगा, जो मेरा स्वरूप नहीं है वह मुझमें अब भी नहीं है, आगे भी न होगा। जितने बाह्यपदार्थ हैं वे सब मेरे स्वरूपसे भिन्न हैं, इनका जो बनता हो सो बने। इनमें जो बात होती हो सो हो। सम्यक्त्वके कारण ज्ञानीके हृदयमें इतना बड़ा साहस जगता है कि वह परपरिणतिको निरखकर व्याकुल नहीं होता। जो होता हो सो हो, परकी बात है, उससे मेरा क्या सम्बंध है, यह विश्वास सम्यग्दृष्टिके रहता है।

सम्यक्त्वकी अमीरी—अनुपम आनन्द आता है सम्यक्त्वके उदय होने पर, इसको कोई व्यथा ही नहीं रहती, कभी मरण भी हो, इस देहको छोड़कर जा रहा हो, वहाँपर भी यह बड़ा प्रसन्न रहता है। क्या है? माही जीव ही तो मृत्युके समयमें दुःख मानते, कि बड़े कष्टसे इतना धन कमाया, अब इसे छोड़कर जा रहे हैं लेकिन ज्ञानी तो यह जानता है कि मैंने कुछ नहीं कमाया, मेरा यहाँ कहीं कुछ नहीं है। केवल हमने परिणाम भर किया था, उस परिस्थितिमें हमने नाना तरहके भाव बनाये थे, पर उनसे मेरा सम्बंध कुछ नहीं। मेरा स्वरूप तो केवल चैतन्यमात्र है। जो है मेरे साथ उसके साथ ही जा रहा हूँ। जो मेरा नहीं है वह मेरे साथ अब भी नहीं है, न कभी साथ रहा और न कभी साथ रहेगा। मेरा वास्तविक स्वरूप तो मेरे साथ ही है, मेरेमें पर्याय है, अतएव इस तरह कह देते हैं किन्तु रहेगा। इसी निज स्वरूपको हम देख रहे हैं, वही मेरी दुनिया है, वही मेरे परभवकी दुनिया है, वही मेरा सर्वस्व है यों जिनकी प्रतीति है उनको दुःख काहेका? जिसे दुःखसे दूर होना हो वह सर्व प्रयत्न करके सम्यक्त्व उत्पन्न करे। सम्यक्त्वके हुए बिना कोई पुरुष अमीर नहीं कहा जा सकता। वे सब गरीब हैं जिनको सन्तोष नहीं है। उनको सहज आनन्दका अनुभव नहीं कहा जा सकता। जिनको निरन्तर आकुलता रहती है, आगे अंधकार ही अंधकार बसा है, सत्य स्वरूप समझमें नहीं आता, वहाँ विह्वलताका क्या ठिकाना? भले ही कोई करोड़पति हो जाये, फिर भी वह महा गरीब है। उसे शान्ति सन्तोषका अवसर नहीं मिल सकता। प्रभुका जो आनन्द है उसकी झलक नहीं हो सकती इसलिए वह गरीब है। और, कोई कितना ही गरीब हो लौकिक दृष्टिमें, उसने यदि अपने आत्माके स्वरूपका दर्शन कर लिया है? बल्कि उसको सारा वैभव तृणावत है। जैसे जीर्ण तृण है उससे कौन मुहब्बत करता है? बल्कि उससे तो सभी लोग उपेक्षा करते हैं। तो इसी तरह जिस ज्ञानीने यह समझ लिया कि मेरे काममें जरा भी आने वाला नहीं है, ऐसी प्रतीति उसके चित्तमें बसी है। जिसके बलपर वह अमीर कहलाता है, वास्तविक धनी है।

श्रावकका प्रथम भेद विशुद्ध सम्यग्दृष्टि अपने आपके सहज स्वरूपका अनुभव होना, प्रतीति होना सो सम्यग्दर्शन है। वह शुद्ध है, जिसमें कोई मूढ़ता नहीं। कोई लोग ऐसा सोचते हैं कि इस पर्वतसे गिरकर मरे तो बैकुण्ठ हो जाये, इस नदीमें नहावे तो बैकुण्ठ हो जायेगा। यह मूढ़ता ही तो है। रागी द्वेषी कुगुरुवोंके बाहरी

चमत्कार देखकर उनमें आसक्त हो जाते हैं, ये ही सच्चे गुरु हैं, रागीद्वेषी गुरुओंको निरखकर विकल्प करके वहाँ भी भक्ति रहा करती है, तो ज्ञानी जीव मूढ़ताओंसे रहित है, उसके किसी भी प्रकारका मद उत्पन्न नहीं हो सकता। जाति, कुल, वैभव, प्रतिष्ठा आदिक किसी भी चीजका घमंड, घमंड नहीं होता। ८ प्रकारके भेद बताये गए हैं। अच्छी जातिमें उत्पन्न होनेका घमंड, अच्छे कुलका घमंड, ज्ञानका घमंड, पूजा प्रतिष्ठा मिलती हो उसका गर्व, शरीरमें बल विशेष हो उसका गर्व, कुछ ऋद्धि चमत्कार हो उसका गर्व, तपश्चरणका घमंड, शरीर सुन्दर हो उसका घमंड, ये ८ प्रकारके मद सम्यग्दृष्टि पुरुषमें नहीं होते, और न वह कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु या उनके सेवकोंमें अपनी प्रीति करता है। जहाँ शंका आदिक कोई दोष नहीं। यों पच्चीस दोषोंसे रहित सम्यक्त्वका पालन करे वह करे वह है श्रावकका प्रथम धर्म।

सम्यग्दृष्टिकी निःशङ्कता व निराकांक्षता सम्यग्दर्शनमें शंका आदिक कोई किञ्चित् दोष हो तो वह सम्यग्दर्शन विशुद्ध नहीं कहलाता है। अपने आपके स्वरूपमें कभी संदेह हो जाये, किसी प्रकारका भय हो जाये कि अब मेरी जिन्दगी किस तरह चलेगी, मेरा परलोक कैसे होगा? शरीरवेदना क्या परिणाम होगा, अथवा अभी मरण तो न आयेगा आदिक किसी भी प्रकारका भय हो तो वह सम्यक्त्वका दोष है। जिस जीवको सम्यक्त्व हो गया उसको क्या भय? जिसने सबसे निराले ज्ञानमात्र अपने स्वरूपको निर्णयमें ले लिया उसको अब शंका क्यों होगी? यह मैं स्वरक्षित हूँ क्योंकि सत् हूँ, जो सत है वह कभी मिटता नहीं और उसमें किसी दूसरेका सम्बन्ध नहीं, ऐसा जिनकी प्रतीतिमें है उनको क्या शंका? उसी तरह जिनेन्द्र भगवान्के वचनोंमें भी शंका कहीं नहीं है। उसने खूब परीक्षा करली है। स्याद्वादकी कसौटीपर कसकर कि जो स्वरूपजैन शासनमें बताया गया वह प्रमाण सिद्ध स्वरूप है। सम्यग्दृष्टि जीवको कभी भोगोंकी आकांक्षा नहीं रहती। भोग भोगता है, इच्छा होती है, मगर ऐसा कुछ नहीं है कि धर्म करके इच्छाकी जाती हो। जैसे जो अतिव्यामोही पुरुष हैं वे पूजा आदिक करके पुत्र चाहेंगे, विवाह चाहेंगे, ऐसी वृत्ति सम्यग्दृष्टिकी नहीं होती। चूँकि वह गृहस्थीमें रह रहा है दुकानमें जायेगा, वहाँ सोचेगा कि आप हो, इतना सोचनेसे सम्यक्त्व नहीं बिगड़ गया।

सम्यग्दृष्टिकी निर्विचिकित्सा सम्यग्दृष्टि जीव कभी भी अपनी किसी परिस्थितिमें घबड़ाहट नहीं लाता कि क्या करूँ, इस प्रकारकी वेदना अनुभवमें नहीं लाता, क्योंकि वह जानता है कि जो सुख दुःखके प्रसंग आते हैं ये अहेतुक हैं। मेरा स्वरूप तो नित्यानित्यात्मक है। यह आत्मा किन तत्त्वोंसे बना, इसका स्वयं आकार क्या है? तो आकार है ज्ञान और आनन्द। ज्ञान और आनन्दस्वरूपसे रचा हुआ यह मैं आत्मा हूँ। तो मूलमें भीतरमें मेरेको कोई कष्ट ही नहीं है, आनन्दस्वरूप मेरा है। जब मैं अपने स्वरूपसे हटकर बाहरमें कुछ निहारता हूँ तो मेरा स्वरूपविकृत हो जाता है। ज्ञानीको किसी क्लेशमें म्लानता नहीं होती। अपने आपमें रुचि होनेसे वह अपने स्वरूपको निहारता है। इसके फलमें बाहरमें इतनी समता हो जाती कि उसे सब जीव अपने समान नजर आते हैं, और साधरणतया उन सबकी सेवा तो रहती ही है, पर धर्मात्माओंकी सेवामें रहें और धर्मात्माओंको दस्त क्रय आदिक हों फिर भी रंच भी ग्लानि नहीं करता, क्योंकि धर्ममें उसे बड़ा अनुराग है। जैसे यहाँ मातायें अपने बच्चेकी टट्टी, नाक आदि पोंछनेमें ग्लानि नहीं होती, क्योंकि उस बच्चेसे प्रेम रखती हैं, इसी प्रकार धर्मात्माकी सेवा करनेमें कोई ग्लानि नहीं करता।

सम्यग्दृष्टिका अमूढत्व व उपगूहन सम्यग्दृष्टि जीवको अपने आपके स्वरूपके बारेमें पूर्ण सावधानी रहती है। मूढ़ता उसके अन्दर नहीं है, क्योंकि उसने साक्षत् अनुभव कर लिया अपने स्वरूपको। जैसे जिस पुरुषने

कुछ बात आँखोंसे देखली, उसके विरुद्ध वह मानता नहीं है। वह समझता है कि मैंने यह सब अपने आँखों देखा। कैसे अन्य बात मान ली जाये? तो आँखों देखी भी बात झूठ हो सकती है, मगर अपने अनुभवमें उतरी हुई बात कभी झूठ नहीं हो सकती। ऐसी भी घटनायें हैं कि आँखों देखी बात भी झूठ निकल आये, मगर अपने हृदयमें, अपने अनुभवमें जो बात उतर आये, वह झूठ नहीं होती। ज्ञानी पुरुषने बाह्यपदार्थोंकी उपेक्षाके बलसे, अपना दिलमें किसी भी परको न बसानेके उपायसे अपने आपमें ऐसा परमविश्राम पाया है कि जिससे अपने आपके सहज सत्यस्वरूपका अनुभव हो गया है। तो अब वह उसके विपरीत किसीके बहकावेमें आकर अपने स्वरूपकी श्रद्धा नहीं छोड़ सकता। ज्ञानी जीव तो ऐसा दृढ़ रहता है, पर अज्ञानी व्यामोही जीव अपने आपके स्वरूपकी बात भी क्या जाने? कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरुके कुछ थोड़ेसे चमत्कारोंको देखकर वहाँही एकदम भक्ति बन जाती है। ज्ञानी पुरुष अपनी उस ज्ञाननिधिको इस तरह गुप्तरूपसे निरख-निरखकर तृप्त रहता है, जैसे किसी दरिद्र पुरुषको कहीं निधि मिल जाये तो उसे एकान्तमें ले जाकर निरख-निरखकर खुश रहता है। सबके बीच तो रखता नहीं, क्योंकि उसे कोई लूट सकता है, तो वह एकान्तमें जाकर अपनी निधि निरखकर तृप्त रहता है। ज्ञानी जीव अपने उस ज्ञानको गुणको उन्नतिको लोगोंको यों नहीं बताते कि बता देनेसे फिर गुण हल्के हो जायेंगे, ओछे बन जायेंगे, क्योंकि जब अपने मुखसे कह दिया तो यहाँ उन गुणोंका बोझ न रह सकेगा। तो ज्ञानी पुरुष उस ज्ञाननिधिको या गुणविकासको बाहर नहीं दिखाना चाहता। वह तो अपने उपयोगको अपने आपमें रख करके वहीं तृप्त रहा करता है। जब कि मोही जीव गुण न हों तो भी अपने मुखसे गुण बखानते रहते हैं और दूसरोंके दोष निखरते रहते हैं। यह वृत्ति ज्ञानी पुरुषकी नहीं होती। उसे तो एक काम पड़ा हुआ है किसी भी प्रकार इन बाह्य उपद्रवोंमें, शरीरबन्धनसे, कर्मबन्धनसे, विकल्पबन्धनसे मुक्त हो जाऊँ, और अपने आपके स्वरूपमें रमकर सन्तुष्ट हो जाऊँ। उसे बाहरकी विडम्बनायें नहीं सुहातीं।

सद्दृष्टिका स्थितिकरण, वात्सल्य व प्रभावन ज्ञानी पुरुषकी यही भावना रहती है कि मैं अपने धर्ममें ही सदा स्थिर रहूँ। चूँकि जहाँ रागद्वेष उठाने पड़ते हैं फिर भी उसका यही प्रयत्न रहता है कि मैं इनसे हटकर अपने आपकी इस ज्ञानानुभूतिमें ही तृप्त रहूँ। और, किसी दूसरे धर्मात्माको विचलित होते देखता है। तो उसे उपदेश देकर या अन्य जिस किसी भी प्रकार हो उसको धर्ममें स्थित करता है। अज्ञानी पुरुषोंके धर्मात्माओंमें वात्सल्य नहीं होता। अज्ञानीको वात्सल्य उनमें होता है जिनमें मोह है। घरके बच्चोंपर, स्त्रीआदिक पर चाहे सारा धन खर्च हो जाये, चाहे जान भी देनी पड़े तो सदा तैयार रहते हैं लेकिन धर्मपर या धर्मात्मापर कोई विपदा आये तो उनमें साथी नहीं बन सकते हैं। उन धर्मात्माजनोंपर खर्च करेंगे भी तो थोड़ासा मनबहलावाके ढंगसे। ज्ञानी पुरुष धर्मात्माओंके प्रति निष्कपट वात्सल्य रखते हैं उनका वात्सल्य धर्मात्माजनोंसे घरके बच्चोंसे भी अधिक रहता है। वैसे भी आप देखें घरके बच्चे लोग इसके हितमें क्या कारण बन सकते हैं? और धर्मात्माजन इसके हितमें कारण बनते हैं? इसी लिए धर्मात्मापुरुषोंको निरपेक्ष बन्धु कहा गया है, किन्तु घरके लोग तो खुदगर्ज बन्धु हैं। अर्थात् जिनसे कुछ लाभ हो सकता है उनको तो यह मोही जीव गैर मानता है और जिनसे कुछ लाभ नहीं, जिनके पीछे अपनी सारी जिन्दगी लगा देते हैं, जीवनभर बड़े-बड़े कष्ट सहते हैं, उनको अपना मानते हैं, पर धर्म और धर्मात्माओंके प्रसंगमें इसको वात्सल्य नहीं उमड़ता। ये अज्ञानियोंके दोष हैं। अज्ञानी जन धर्मकी प्रभावनाको नहीं चाहते। न अपनेमें धर्मकी बड़वारी चाहते हैं, न दूसरोंमें धर्मकी बड़वारी चाहते हैं। और प्रभावना करेंगे तो दोषोंकी। लेकिन ज्ञानी पुरुष सत्य धर्मकी प्रभावना करते हैं, उपदेशसे, ज्ञानसे, आचरणसे, सर्वप्रकारसे धर्मकी प्रसिद्धि करते

हैं। तो सम्यग्दर्शन होना यह श्रावकका मूल धर्म है। अन्तः पद्धतिमें ये १२ भेद बताये जा रहे हैं, उनमें पेशम भेद सम्यग्दर्शनकी शुद्धि होना बताया है।

द्वितीय श्रावक श्रावकका दूसरा भेद है पहिली प्रतिमा। ११ प्रतिमायें और उससे पहिले सम्यक्त्वका होना यों बारह भेद श्रावकके बताये गये हैं। उसमें पहिले प्रकारका तो बताया जा चुका है। दूसरा है दर्शन प्रतिमाका धारी श्रावक। यह मद्य, मांस, मधु, आदि जो स्थूल दोष है उनका त्यागी होता है, ५ उदम्बरफल व अन्य अभक्ष्योंका इनका परिहार किये रहता है, कंदमूलकी चीजें नहीं खाता, चमड़ेमें रखी हुई चीजोंको भी नहीं खाता। पहिली प्रतिमाधारी श्रावक भी दार्शनिक है, उसका भोजन भी ब्रतियोंकी तरह शुद्ध होता है, ब्रतग्रहण नहीं किया इतनी ही कमी है। मगर सम्यग्दर्शनके होनेपर प्रवृत्ति ब्रतियोंकी भँति हो जाती है? उससे भी यह परीक्षा हो जाती कि इस मनुष्यका सम्यक्त्वके साथ कितना सम्बन्ध है? यह मनुष्यकी बात कही जा रही है। तिर्यञ्च सम्यग्दृष्टि हो उसमें तो बाह्य आचारमें कुछ कमी रह जायेगी, किन्तु मनुष्य सम्यग्दृष्टि हो तो उसकी वृत्ति शुद्ध होगी, क्योंकि उसका इतना विशिष्ट मन है, इतना विशिष्ट सामर्थ्य है कि अपनी विशुद्धिको निभा सकता है। तो श्रावकका दूसरा भेद है पहिली प्रतिमाका धारण करना।

तृतीय श्रावक तीसरा प्रकार श्रावक है द्वितीय प्रतिमाधारी श्रावक। ५ अणुव्रत, ३गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत, ऐसे बारह प्रकारके व्रत होते हैं। मोटी हिंसाका त्याग, याने स्थावर जीवोंकी हिंसासे बचत गृहस्थोंको नहीं होती, उद्यमी, विरोधी हिंसायें भी गृहस्थोंसे होती हैं, मगर संकल्पी हिंसाका त्याग कर देता है। गृहस्थ लोग पूर्णसत्य नहीं बोल सकते, क्योंकि आरम्भ परिग्रह, व्यापार आदिकके कार्योंमें पूर्णतया सचाईघर टिकता नहीं है। तथा व्यापार आदिक कार्योंमें सत्य बोले भी तो उसे भी परमार्थतः असत्य कहा गया है, क्योंकि वह आत्माकी बात नहीं है। और, भी कई प्रसंग ऐसे होते हैं जिनमें असत्य बोलना पड़ता है, पर गृहस्थोंको चाहिए कि स्थूल असत्यका त्याग हो याने अपने स्त्री अथवा पतिके सिवाय अन्यत्र सम्बन्ध न रखना। पाँचवाँ ब्रत है परिग्रहका परिमाण करे, इन ५ अणुव्रतोंको जो धारण करे वह तृतीय श्रावक कहलाता है। इस अणुव्रतकी रक्षाके लिए ३ गुण व्रत धारण करता है। मैं जन्मपर्यन्त इतनी दूरसे अधिक नहीं जाऊँगा, इतनी दूरका व्यापार न करूँगा, यों आजन्म मर्यादाका निभाना दिग्ब्रत है। उसमें भी दो दो चार चार दिनका नियम लेकर और भी इधर उधर आना जाना कम कर लेना देशब्रत है। बिना प्रयोजन किए जाने वाले कार्योंको अनर्थदण्ड कहते हैं, जो उनका त्यागी होता है यह ब्रत प्रतिमाधारी श्रावक। जैसे तोता, कुत्ता, बिल्ली, कबूतर आदिक पालना, यह भी उसके लिए वर्जित है, कुलीन पुरुषोंको ये भी चीजें न पाना चाहिए। इन तोता, मैना आदिकके पालनेसे फायदा मिलता हो तो बताओ। कुछ फायदा नहीं मिलता। ऐसे व्यर्थके कार्य ज्ञानी पुरुष नहीं करते। उसीके साथ-साथ और भी अनेक बातें हैं। जैसे बिना प्रयोजन बहुतसा जल बखेरना, बिना प्रयोजन पेड़ोंकी टहनियाँ गुणव्रतोंकी रक्षाके अभ्यासके लिए चार शिक्षाव्रतोंकी और गुणव्रतोंकी रक्षाके अभ्यासके लिए चार शिक्षाव्रतोंका पालन करना होता है। तीनों समय सामायिक करना। सामायिकमें विचार क्या चलता है? वहाँतो आत्मतत्त्वके चिन्तनका विचार चलता है? वहाँ तो आत्मतत्त्वका चिन्तन बढ़ानेके लिए जाप करना, पाठ करना, बारह भावनायें भाना आदिक जो जो भी कार्य सामायिक में किये जाते हैं उन सबका लक्ष्य है निर्विकल्प ज्ञानस्वभावमय अपने आत्मतत्त्वका चिन्तन बनाना। प्रोषधोपवास करना, याने ७ दिनमें एक दिन ऐसा अभ्यास रखना है कि जहाँखाने तकका विकल्प न करें और धर्मध्यानमें बहुतसा समय गुजारें। यह श्रावक भोगोपभोगका परिमाण करता है, खाने पीने की, आरामकी चीजोंका नियम कर लेना, मैं इतनी ही चीज खाऊँगा,

इतने ही आरामके साधन रखूंगा यों भोगोपभोगपरिमाण होता है। अतिथि सम्बिभाग ब्रत मुनि, क्षुल्लक, ऐलक आदिक पात्रोंको भोजन कराकर फिर भोजन करना, ऐसी सी मनमें धारणा कर लेना कि मैं तो अतिथिको भोजन देकर खुद भोजन करूँगा, यदि कदाचित् अतिथि न मिले तो भी उसकी भावना कर लेना यह है श्रावकका अतिथि सम्बिभाग ब्रत। तृतीय प्रकारके श्रावकका यह द्वादश व्रतका नियम हो जाता है।

चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ, सप्तम, अष्टम, नवम श्रावक—सामायिक प्रतिमाका पालक चौथा श्रावक है। निरतिचार सामायिक करनेका ब्रत होता है इस चतुर्थ प्रतिमाधारी श्रावक का। प्रोषधोपवास अष्टमी और चतुर्दशीको उपवास करना यह है पंचम श्रावकका ब्रत। छठा है ५वीं प्रतिमाधारी श्रावक। जहाँ सचित्त जल, फल, धान्य आदिकका त्याग हो जाता है। उसमें दयाका विशेष संचार हो जाता है। देखिये यद्यपि परिस्थितिवश यह श्रावक जल गर्म करेगा फिर भी उसके अन्दर दयाकी इतनी विशेषता है कि उसके अन्दर पाये जाने वाले जीवोंके प्रति वह दयाका भाव रखता है। वह सचित्तको अचित्त इसलिए करता है कि उसकी म्याद बढ़ जाये और कामोत्तेजकता न रहे तो वह इतना दयालु हो गया है कि वह सदोष चीजको जिसमें एकेन्द्रियका भी घात है उसे भक्षण नहीं कर सकता। ७वाँ श्रावक है छठी प्रतिमाधारी श्रावक। वह रात्रिमें किसी भी प्रकारका न भोजन करता है, न कराता है, न करनेकी अनुमोदना करता है। और वह दिन पूर्ण ब्रह्मचर्य रखता है, ८वाँ श्रावक है सप्तम प्रतिमाधारी श्रावक। इस सप्तम प्रतिमामें पूर्ण ब्रह्मचर्यका नियम रहता है। मैथुनका पूर्णरूपेण नव कोटिसे त्याग होता है। ९वाँ श्रावक है अष्टमप्रतिमाधारी। वह आरम्भका त्यागी होता है। घरमें किए जाने वाले आरम्भ परिग्रह व्यापार आदिके कार्योंको त्याग देता है। हाँ यदि वह सर्विस किए हुए हो वह पेन्सन भी न मिले तो उसे कहीं ऐसा भाव नहीं होता है कि वह फिर कमाईका कार्य कर सके। वह तो आगे प्रतिमामें बढ़ जायेगा, क्षुल्लक अथवा ऐलक हो जायेगा। यह है ९वाँ श्रावक।

दसवां, ग्यारहवां व बारहवां श्रावक दसवां श्रावक है ९वां प्रतिमाधारी। जहाँपर आवश्यक वस्त्रके अलावा समस्त परिग्रहोंका त्याग हो गया वह है परिग्रहत्यागप्रतिमाधारी। यह घर द्वार, धन, धान्य आदिक सब कुछ त्याग देता है। बच्चे लोग अगर कहें कि अब तो तुम्हारा यहाँ कुछ नहीं रहा। तुम यहाँसे जावो तो वह यह न कहेगा कि हम नहीं जाते यह तो मेरा घर है। वह तो उठकर वहाँसे चला जायेगा। तो परिग्रहके त्यागकी बात क्यों जरूरी है किसी कल्याणार्थीको कि जितनी बाधा आ रही है आत्मउन्नतिमें वह परिग्रहके संगसे आ रही है, और परिग्रहका प्रसंग एक तो होता है आवश्यक प्रसंगमें और एक होता है अनावश्यक प्रसंगमें। तो आज लोग अनावश्यक धनसंचयके प्रसंगमें लग गए, और क्यों लगे? पर्यायबुद्धिसे। देहको माना कि यह मैं हूँ। ये लोग समझ जायें कि यह भी एक खास आदमी है। कितना अज्ञान अंधेरेमें बढ़ गए। जिसके पास जितना धन है वह आवश्यकतासे कई गुना अधिक मिला है लेकिन संतोष नहीं होता। और, कल्पना करले कि आज जितना धन है उससे चौथाई ही धन होता तो क्या जीवित न रहते? जीवित रहनेके लिए कितना धन आवश्यक है सो सोच लीजिए। अधिकतो है ही, मगर तृष्णा ऐसी लगी हुई है कि जो धन है पासमें उसका भी सुख नहीं ले पाते। दुःखी रहते हैं। तो यह ९वीं प्रतिमाधारी श्रावक समस्त प्रकारके परिग्रहोंका त्याग कर देता है, सिर्फ थोड़ेसे कपड़े पासमें रहते हैं। ११वाँ श्रावक है दसम प्रतिमाधारी। वह अनुमतित्यागी होता है। ९वीं प्रतिमा तक तो वह अनुमति भी देता था पर १०वीं प्रतिमामें अनुमतिकी भी त्याग है। समयपर जो भी बुला ले जाये, भोजन करा दे, पर वह किसीको अनुमति नहीं दे सकता। बारहवां श्रावक है ११वीं प्रतिमाधारी। जो उद्वेष्टका त्यागी है, वह बिना दी हुई कोई चीज

ग्रहण नहीं करता। हां यद्यपि कोई रोज अशुद्ध खाता हो, विधिपूर्वक न खाता हो, और एक दिन भी वह सब घरके लिए शुद्ध भोजन बनाये तो उसमेंसे ये क्षुल्लक ऐलक आदि दूसरेको ग्रहण कर लेते हैं और अगर वे समझ जायें कि इसने तो यहाँ सिर्फ मेरे लिए भोजन बनाया है, बाकी सभी लोगोंके लिए दूसरी जगह चूल्हा जलेगा, तो ऐसे बने हुए आहारको वे साधुजन नहीं ग्रहण करते हैं। इस तरह श्रावकके बारह भेद हैं। इन बारह प्रकारके श्रावकोंका धर्म सर्वज्ञदेवने बताया है। अब इनमेंसे जो प्रथम भेद है सम्यग्दर्शनका उस सम्यग्दर्शनके बारेमें विशेष विवरण करेंगे। सम्यक्त्वकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है, उसका क्या साधन है? कैसे जीवको सम्यग्दर्शन होता है? सम्यग्दर्शनके बारेमें कुछ विशेष विवरण किया जायेगा, क्योंकि सर्व धर्मोंका मूल सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व नहीं है तो व्रत, तपश्चरण, संयम आदि बाहरमें कल्पना कर ली जाये, किन्तु अन्तः जिस प्रकारसे धर्मका लाभ होना चाहिए, कर्मक्षय होना चाहिए वह कुछ भी नहीं बन सकता। अतः अब सम्यग्दर्शनका वर्णन करेंगे।

चदुगदि-भव्वो सण्णी सुविसुद्धो जग्गमाण-पज्जत्तो।

संसार-तडे णियदो णाणी पावेइ सम्मत्तं ॥ ३०७ ॥

कल्याणक सम्यक्त्वका निर्देश इस जीवका कल्याण करने वाला भाव सम्यग्दर्शन है। जीव आकुलता पाते हैं अपने आपके स्वरूपका सही श्रद्धान पाये बिना। जब अपने आपका पता नहीं है कि मैं सबसे निराला स्वतः ज्ञानस्वरूप और आनन्दमय हूँ, मैं अपने आपमें अपना ही परिणमन कर पाता हूँ, किसी अन्य वस्तुसे मेरा सम्बंध नहीं है, मैं स्वयं आनन्दमय हूँ। मेरेको बाहरमें करने योग्य काम कुछ नहीं है, बल्कि विकल्प भी करना योग्य नहीं है, ऐसी स्थितिमें यह आत्मा स्वयं कल्याणस्वरूप है, जब इस तत्वका पता नहीं रहता जीवको तो बाहरी मायाजालोंमें इसका उपयोग फंसा है और यह इसीसे दुःखी होता है। जैसे स्वप्नमें यह देख रहे हैं कि यह सिंह आया, यह हाथी आया, यह मगर आया, उसने खाया, ऐसी बातें जब स्वप्नमें देखते हैं तो कुछ न होनेपर भी विकल्पके कारण ये दुःखी रहा करते हैं। वह दुःख मिटे ऐसा उपाय कोई बनाये तो सच्ची बुद्धिमानी इसमें है, इसीको कहते हैं सम्यग्दर्शन। जैसा आत्माका सहज सत्य स्वरूप है उस रूपमें अपनेको मान लेना कि मैं तो यह हूँ। यह है सम्यक्का दर्शन।

विपरीताभिनवेशरहित होनेसे सम्यक्त्वकी कल्याणरूपता देखिये जितने भी सुख दुःख हैं वे अपने आपको कुछ माननेके कारण हैं। जैसे घर गृहस्थीमें जब लड़के प्रतिकूल चलते हैं, या बड़े खर्चीले हा जाते हैं तो पिता बड़ी हैरानीमें पड़ जाता है। तो वह हैरानीमें क्यों पड़ता? उसने मान रखा कि मैं इसका पिता हूँ और मुझे यह सब करना है। तो भीतरमें जो मैं बाप हूँ ऐसी बुद्धि बनी है उस बुद्धिके कारण उस तरहकी तरंग उठ गयी जिससे कि वह दुःखी रहा करता है। तो हर स्थितियोंमें आप यही पाइयेगा कि जो कुछ हमें सुख-दुःख होते हैं वे हमारे ज्ञानकल्पनाके आधारपर होते हैं। तो जब जीव अपनेको इस तरह मानता होगा कि मैं तो निर्विकल्प निस्तरंग ज्ञानमात्र शुद्ध ज्ञानस्वरूप आनन्दमय स्वभाव हूँ, मैं कृतकृत्य हूँ, मुझे बाहरमें कुछ करना ही नहीं है। यह जो कुछ किया जा रहा है वह कषायोंकी प्रेरणासे किया जा रहा है। ये कषायें तो मेरे लिए दुःख रूप हैं। मैं तो अपने सत्य ज्ञानस्वरूपको लखूँगा। अगर ऐसा सत्य आग्रह कर लिया तो उसे जगतमें फिर क्या क्लेश? भले ही सभी लोग मानें कि इसकी तो कोई इज्जत नहीं, कोई इसे ज्यादा मानता नहीं, तो इन बातोंमें क्या रखा? कोई भी जगतमें ऐसा उपाय नहीं है कि सभी लोग मुझे मान सकें, सभी लोग मुझे अच्छाकह सकें। और, कुछ करनेकी जरूरत भी क्या है? सभी लोग प्रतिकूल रहें तो मेरा क्या बिगाड़ है और सभी लोग अनुकूल बन जायें तो वे मेरा क्या सुधार कर देंगे? मेरा सुख-दुःख,

मेरी शान्ति-अशान्ति तो मेरे ज्ञानभावकी परिणतिपर निर्भर है। तो इन सब बातोंसे उपेक्षा करके एक इस प्रकाशमें प्रयत्न करना चाहिए कि मैं अपनेका जैसा ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ अनुभव कर लूँ। इसीको कहते हैं सम्यग्दर्शन। तो सम्यग्दर्शनको कौन जीव प्राप्त करता है, इसका वर्णन इस गाथामें किया जा रहा है।

नरकगति व तिर्यञ्चगतिमें सम्यक्त्वकी पात्रता सम्यक्त्वको चारों गतिके भव्य जीव उत्पन्न कर सकते हैं, नारकी भी सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते, जो घोर दुःखमें पड़े हुए हैं, जिनकी बड़ी तीव्र वेदनायें हैं, उनमें रहने वाले नारकी भी सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर लेते हैं भला बतलाओ कि बाहरमें दुःख भोग रहा है और भीतरमें सम्यक्त्वकी वासना प्रतीति होनेसे अन्तरङ्गमें तृप्त रहता है। कैसी कला है कि इतने कठिन शारीरिक क्लेश और भीतरमें इतना अद्भूत आनन्द उन नारकियोंमें कि जिस आनन्दको मिथ्यादृष्टि चक्री भी नहीं पा सकता है। तो सम्यक्त्वकी बहुत बड़ी महिमा है। सम्यक्त्वको नारकी जीव भी उत्पन्न कर सकते हैं, पशु-पक्षी भी उत्पन्न कर सकते हैं। जो बोल नहीं सकते, जो दूसरोंको अपने भाव नहीं बता सकते, जो दूसरोंकी भाषा भी नहीं समझ सकते, यदि कोई साधु उपदेश दे रहा हो उन पशु पक्षियोंको तो साधुकी मुद्रा, आकार प्रकारको देखकर वे सब समझ जाते हैं, मगर उन भाषाओंको न समझ सकेंगे। फिर भी उन पशु-पक्षियोंमें इतनी विशेष योग्यता हो सकती है कि वे सम्यक्त्व उत्पन्न कर लें। जिस समय श्री रामचन्द्र जी ने बनमें आहार दिया था मुनिराजको और जटायुने अनुमोदनाकी थी, उसकी उस अनुमोदनासे ही उस जटायुका जीवन सफल हो गया था। अनेक दृष्टान्त ऐसे आते हैं कि जहाँ पशु पक्षियोंका सम्यक्त्व उत्पन्न हो गया। वह हाथी जो भरतके जमानेमें था उसे अपने कोई संस्कारसे बोध उत्पन्न हुआ तो सर्व प्रकारके भोजनका परित्याग कर दिया था, और एक शुद्ध आत्मतत्त्वके स्मरणमें उसने अपना उपयोग लगाया था। उसने समाधिकरण किया। ऐसे अनेक दृष्टान्त मिलते हैं कि बंदर, नेवला, सुकर, सर्प आदिक बहुतसे पञ्चेन्द्रिय जीव सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते हैं। तो ऐसा अनुपम सम्यग्दर्शन कि जिससे संसारके समस्त दुःख टल जाते हैं ऐसे सम्यग्दर्शनको तिर्यञ्च भी प्राप्त कर सकते हैं।

मनुष्यगति व देवगतिमें सम्यक्त्वकी पात्रता अब मनुष्यकी बात देखलो, इनके लिए तो सम्यक्त्व प्राप्त कर लेना बड़ी आसान चीज होना चाहिये। सच्चा ज्ञान पाना, अपने आत्माकी सच्ची सुध ग्रहण कर लेना मनुष्योंके लिए कितनी आसान चीज है। उन पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा हम आपका कैसा पुण्यादय मिला है, कैसी सुविधायें मिली हैं, पर इन रागद्वेषके साधनामें रहकर यह जीव भूल जाता है। तो मनुष्यपर बड़ी जिम्मेदारी है। इस समय वह ऐसा भी प्रयत्न कर सकता है कि सदाके लिए संसारके संकट समाप्त कर दे। और ऐसा भी प्रयत्न कर सकता है कि संसारमें बहुत काल तक रुले, निगोद और एकेन्द्रियमें भी जन्म धारण कर ले। तो यहाँ अपनी बड़ी जिम्मेदारी समझकर विवेकपूर्वक चलनेका यहाँ काम है। देवगतिके जीव भी सम्यक्त्व उत्पन्न कर सकते हैं। देवगतिके जीव संसारी जीव कहलाते हैं। इनका शरीर दिव्य है, वैक्रियक शरीर है, इन्हें कमाना नहीं पड़ता, किसी प्रकारके असि मसि आदिक कर्म नहीं करने पड़ते। हजारों वर्षोंमें भूख लगती, कंठमें अमृत झर जाता है, उससे भूखकी शान्ति हो जाती है और अनेक पखवारोंमें श्वास लेते हैं। श्वास लेना भी तो एक दुःखका कारण है। कितने पुण्यवान् जीव हैं वे, लेकिन उस पुण्य क्रीडामें, देवियोंकी क्रीडामें रमते रहते हैं, वे भी प्रायः सम्यक्त्व नहीं प्राप्त कर पाते। उनमें ऐसी योग्यता अवश्य है कि जब वे समवशरणमें जाते हैं, रास्तेमें किसी साधुसंतका उपदेश मिल जाता है या देवद्विदर्शन होता है या अन्य योग्य साधन मिलते हैं तो वे सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते हैं। उनमें योग्यता अवश्य है सम्यक्त्व उत्पन्न करनेकी ओर अनेकों देव सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते हैं।

चातुर्गतिक भव्य संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त, जागृत, जीवके सम्यक्त्व लाभकी पात्रता—सम्यक्त्व चारों गतिके जीव उत्पन्न कर सकते हैं, पर वे संज्ञी होने चाहिए। तिर्यञ्चोमें जो जीव संज्ञी हैं, मन वाले हैं वे ही सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं, संज्ञीके साथ-साथ विशुद्ध परिणाम वाला होना चाहिए। तीव्र कषायमें खोटी लेष्यामें सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता और वह जागृत होना चाहिए। स्वप्नमें भी सम्यक्त्व है लेकिन एक बात समझ लेना चाहिए कि भले ही सोते हुएमें सम्यग्दर्शन उत्पन्न न हो मगर जिस जीवको सम्यग्दर्शन हो गया है वह सोते हुएमें भी स्वका अनुभव कर सकता है। इतनी बड़ी महिमा है उस अनुभव की। जैसे किसीको स्वप्नमें बाहरी पदार्थ दिखते हैं ऐसे ही ज्ञानी पुरुष स्वप्नमें आत्मस्वरूपको तकता है। सोते हुएमें सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता, तो जागृत अवस्थामें ही सम्यग्दर्शन हो सकता है। जो पर्याप्त हैं वे पैदा होकर तुरन्त मर जाते हैं, उनका शरीर भी पूर्ण नहीं बन पाता और मरण कर जाते हैं, याने उत्पन्न होते हैं दो एक सेकेण्डमें मर जायें ऐसे अपर्याप्त जीव सम्यग्दर्शनको उत्पन्न नहीं कर सकते। जो पर्याप्त होगा वही सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करेगा। अब अपनी बात सोच लीजिए कि हम सैनी हैं, विशुद्ध परिणाम वाले भी हैं, जागृत अवस्था है, पर्याप्त हैं, फिर क्यों न ऐसा उद्यम करें कि सम्यक्त्व उत्पन्न कर लें। ये रागद्वेषके समागम प्राप्त होते हैं, मोह ममताके भाव बहुत जागृत होते हैं, पर ये मेरे आत्माके मित्र नहीं, किन्तु अनिष्टके ही कारण बन रहे हैं। जिनसे भी प्रीति जोड़ रहे हों वे हमारे अनर्थके ही कारण बनेंगे, हितके नहीं। लेकिन ये मोही जीव जिन जिनमें मोह होता उनमें ही आसक्त रहते हैं उनसे पृथक् अपने को अनुभव नहीं कर सकते। तो ऐसा जीव सम्यक्त्वको उत्पन्न करता है।

निकटसंसारिके सम्यक्त्वका लाभ—एक बात और साथमें समझना चाहिए कि जिनका संसार-तट निकट आया है वे सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करते हैं। संसार कबसे चला है? इसकी कोई आदि नहीं है, इसी कारण बताया है कि यह संसार अनादिकालसे चला आया, कितने ही जन्म-मरण किये पर जिनका अन्त नहीं। तो ऐसे अनादि अनन्त जन्म-मरण करते हुए यदि आज एक ऐसा मनुष्यभव मिला है कि जहाँ हम अपने आत्माकी सावधानी बना सकते हैं तो इसका सदुपयोग क्यों नहीं कर लिया जाता? जब जैन शासन मिला, इतना पवित्र धर्म प्राप्त हुआ कुलीन हुए, फिर भी अपने हितकी बात न बनायी जा सकती हो तो यह कितनी खेदकी बात है? इसको बताया है कि जीवने अनन्त पुद्गल परिवर्तन किये। एक पुद्गल परिवर्तनका बहुत लम्बा काल होता है। एक पुद्गल परिवर्तनका यह अर्थ समझिये कि जैसे किसी जीवने कोई परमाणु ग्रहण किया शरीररूप अथवा कर्मरूप। अब वह परमाणु नवीन है, दूसरे समयमें फिर ग्रहण करे, तीसरे समयमें फिर ग्रहण करे तो नया ही ग्रहण करे। ऐसे अनन्त बार नवीन नवीन परमाणु ग्रहण हो जायें तब एक बार ग्रहण किया हुआ भी ग्रहण कर ले, फिर अनन्त बार ग्रहीत ग्रहण हो जाये तो एक मिश्रको ग्रहण करे याने इसमें अनगिनते वर्ष हो जाते हैं। कितने अनन्त कि जो अवधिज्ञानके विषयसे परे हैं। यों अनन्त बार मिश्र ग्रहण कर ले यों सभी पूर्ण हो जाये इतने अनगिनते वर्षोंका नाम है अर्द्धपुद्गल परिवर्तन। तो जब अर्द्धपुद्गल परिवर्तन काल शंभु रहता है संसारमें रहनेका तब वहाँ सम्यग्दर्शनकी पात्रता होती है। इतनी सब बातें प्राप्त हों तो जीवको सम्यग्दर्शन होता है।

सम्यग्दर्शनका अर्थ—सम्यग्दर्शनका प्रायः सभी जगह वर्णन है, और अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार किसी न किसी रूपमें किया गया है। मगर यह शब्द स्वयं अपना सही स्वरूप बता देता है। सम्यग्दर्शनमें सम्यक् शब्द पड़ा है सम्यक् मायने जो अच्छा है। अच्छा कौन है? जो निरपेक्ष हो और किसीके साथ न फंसा हो, जो किसीके साथ न मिला हो, प्योर हो, केवलहो, उसका दर्शन हो वही सम्यग्दर्शन कहलाता है। जब चौकीपर कूड़ा,

पड़ जाता है तो उसे कहते हैं कि यह मलिन हो गया। अब उसकी मलिनता दूर करनेके लिए यह उपाय करते हैं कि कूड़ा बिल्कुल हट जाये, केवल चौकी रह जाये, तो केवल रह जानेका नाम ही सम्यक्पना कहलाता है। तो मैं आत्मा केवल क्या हूँ? खाली मैं ही मैं क्या हूँ, इस प्रकारके कैवल्यका दर्शन करनेका नाम है सम्यग्दर्शन। तो जिस कालमें सम्यग्दर्शन होता है, बाहरी पदार्थोंकी उलझी दृष्टि सब खत्म हो जाती है, केवल अपने स्वरूपका उपयोग रहता है, उस समय इसको जो आनन्द प्राप्त होता है, या इसकी जो अपनी अलौकिक स्थिति होती है उसकी तुलनामें तीन लोकका वैभव भी न कुछ चीज है। यह तीन लोकका वैभव आखिर डेला पत्थरही तो है, बाह्यपदार्थ ही तो है। उससे मेरे आत्माका कौनसा आनन्द आ जायेगा? तो समस्त तीन लोकके वैभव भी मिलकर या भूत भविष्यके समस्त संसारी जीव जितना सुख भोगते हैं वे सारे सुख भी उस तुलनाको प्राप्त नहीं कर सकते। ऐसा वह सम्यग्दर्शन कैसे प्रकट होता है, किस प्रकारका प्रकट होता है, इसका वर्णन करते हैं।

सत्तण्हं पयडीणं उवसमदो होदि उवसमं सम्मं।

खयदो य होदि खइयं केवलि-मूले मणूसस्स ॥ ३०८ ॥

जीवके साथ कर्मोंका बन्धन—जीवके साथ अनेक कर्म प्रकृतियाँ लगी हुई हैं और ये प्रकृत्या लग गयी हैं और उन कर्मोंकी स्थितियाँ भी होती हैं। यदि इस मुझ जीवके साथ कोई मुझसे विपरीत विजातीय चीज न लगी हो तो हम नाना तरहके विषम परिणामन नहीं कर सकते। जैसे पानी अपने आप स्वभावसे शीतल है, पर उसके गरम किये जानेपर थोड़ा गरम, अधिक गरम, उससे भी अधिक, ये जो विषमतायें हैं वे यह सिद्ध करती हैं कि इसके साथ कोई गर्म चीज, इसके स्वभावके विरुद्ध चीज लगी हुई है, इसी तरह जीवमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदिककी नाना परिणतियाँ दिखती हैं और वे कषायें भी अपनी सीमामें नाना प्रकारके भेद वाली हैं।

इतनी विचित्र परिणतियाँ जो जीवमें चलती हैं उनसे ही यह सिद्ध है कि इस जीवके साथ कोई विजातीय चीज लगी है तब इसके नाना परिणामन हो रहे हैं। विजातीय चीज भी बहुत सूक्ष्म होना चाहिए, क्योंकि जीव अमूर्तके साथ जो भी विजातीयका बन्धन होगा, ऐसा सूक्ष्म किन्तु मूर्तिक कोई विजातीय परपदार्थ लगा है जिसको कर्म नामसे कहते हैं। कर्मकी बात सभी लोग स्वीकार करते हैं कि जीवके साथ कर्म लगे हैं। जैसे कर्म हैं वैसे सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं, मगर वे कर्म क्या चीज हैं इसका स्पष्ट अर्थ जैन शासनमें मिलता है। कर्म एक सूक्ष्मवर्गणायें हैं, और वे इतनी सूक्ष्म हैं कि पहाड़, बज्र आदिकसे नहीं टकरा सकते, पर वे हैं मूर्तिक। वे ऐसी ही जातिके हैं और वे जीवके साथ संसार अवस्था में सदा रहते हैं। जब जीव कषाय करता है, विकल्प करता है तो ये ही कर्मवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। और, जब वे कर्मरूप बने तो उसी समय उनमें वह सब व्यवहार हो जाता है कि इतने दिनों तक जीवमें रहेंगे और इस तरह तरहसे बनेंगे और उनके उदयके समय जीव स्वयं ऐसा फल प्राप्त किया करेगा। ये सब व्यवस्थायें तुरन्त बन जाती हैं।

१४८ कर्मप्रकृतियोंमें सम्यक्त्वघातक सात प्रकृतियाँ—कर्मप्रकृतियाँ १४८ हैं। जिनका भिन्न-भिन्न काम है। कुछ कर्मप्रकृतियोंके उदयसे शरीरमें रचनायें होती हैं कुछ कर्मप्रकृतियोंके उदयसे ज्ञानका आवरण होता है। तो जैसे जैसे वह आवरण हटता है वैसे वैसे इसका ज्ञान बढ़ता है। कुछ कर्मप्रकृतियोंके कारण इस जीवको शरीरमें रुके रहना पड़ता है। कुछ प्रकृतियोंके कारण इस जीवको शरीरमें रुके रहना पड़ता है। कुछ प्रकृतियोंके उदयसे जीव ऊँच-नीच कुलमें उत्पन्न होते हैं, कुछ प्रकृतियोंके उदयसे सांसारिक सुख-दुःख हुआ करते हैं, यह बेसुध हो जाये, उल्टा चले, खोटे मार्गमें चले, ये सब बातें इन कर्मप्रकृतियोंके उदयमें हुआ करती हैं। तो उन १४८

प्रकृतियोंमें से ७ प्रकृतियाँ ऐसी हैं कि जो जीवके सम्यग्दर्शनको नहीं होने देतीं। उनका नाम है अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। अनन्तानुबंधी कषाय उसे कहते हैं जो बहुत काल तक जीवके साथ संस्कार बनाये रखे। जैसे ऐसा क्रोध जग जाये कि मैं तो इससे बदला लेकर ही रहूंगा, चाहे जितना समय लग जाये। यहाँ तक कि वह क्रोधका संस्कार दूसरे भवमें भी जाये, उसे कहते हैं अनन्तानुबंधी क्रोध। सर्पोंके बारेमें यह बात प्रसिद्ध है कि कोई मनुष्य यदि सर्पको छेड़ दे तो वह ऐसा क्रोधका संस्कार बना लेता है कि १२ वर्ष तक भी उस पुरुषको ढूँढ़कर वह डसता है। तो देखिये तिर्यञ्चोंमें भी ऐसा अनन्तानुबंधी क्रोध होता है। इनमें भी समझ है, इनमें भी कषायकी तीव्रता है। इटावाकी एक घटना है कि किसीने कुछ लड्डू लाकर हाथीके महावतको दिया और कह दिया कि लो ये लड्डू इस हाथीको खिला देना। सो उस महावतने हाथीको न खिलाकर स्वयं ही खा डाले व रख लिये, तो उस हाथीको इतना क्रोध आया कि अपनी सूंडमें महावतको लपेटकर भीतोंमें पटक-पटक कर मार डाला। तो इन तिर्यञ्चोंमें भी ये तीव्र कषायें चलती हैं। जो क्रोध ऐसा हो कि भविष्यमें भी अपना संस्कार बनाये ऐसे क्रोधको कहते हैं अनन्तानुबंधी क्रोध। इसी प्रकार अनन्तानुबंधीमान, माया, लोभ आदि कषायें भी होती हैं। कहो ऐसी मान कषाय जग जाये कि जिसका संस्कार अगले भवमें भी जाये, कहो ऐसी मायाचारीकी जाये कि जिसका संस्कार बहुत काल तक चले, अथवा कहो इस तरहका लोभमयी(लालचमयी) संस्कार बन जाये कि जो संस्कार बहुत काल तक चले, ये सब अनन्तानुबंधी कषायें हैं। इन कषायोंमें रहते संते इस जीवको अपने आत्माकी सुध नहीं हो सकती। इसी प्रकार मिथ्यात्व जो विपरीत परिणाम करा दे, सम्यक् मिथ्यात्व, जो मिथ्या, सम्यक् (मिलवा) परिणाम करा दे, और सम्यक् प्रकृति जो सम्यग्दर्शनका दूषण बना दे, ऐसी हैं ये तीन प्रकृतियाँ। यों सात प्रकृतियाँ सम्सक्त्वका घात करती हैं। इन ७ प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त्व होता है, मायने ७ प्रकृतियाँ दब गईं, थोड़ी देरका सम्यग्दर्शन हो गया। प्रकृतियाँ उखड़ेगी तो सम्यग्दर्शन मिट जायेगा। ७ प्रकृतियाँ न रहें तो शुद्ध सम्यग्दर्शन सदा रहेगा। इस सम्यक्त्वकी चर्चा अब आगे चलेगी।

उपशमसम्यक्त्वका लाभ यह जीव अनादिकालसे कर्मबन्धनसे बंधा हुआ है, तो कर्मके उदयसे इस जीवकी कलुषतायें अनादिसे चली आ रही हैं, ऐसी स्थितिमें इन ७ प्रकृतियोंका उपशम कैसे हो सकता है? इसके उत्तरमें काललब्धि आदिक कारणको ही बताया जा सकता है। प्रथम तो जब जीवका संसार कुछ कम अर्द्धपुद्गल परिवर्तन कालशेष रहता है तब सम्यक्त्वकी पात्रता होती है। यह एक काललब्धि है और अगर अर्द्धपुद्गल परिवर्तनसे अधिज काल है, जीवका संसारमें रहनेका तो उसके प्रथमोपशम सम्यक्त्व नहीं बन सकता है। दूसरी काललब्धि यह है कि जब कर्मोंमें उत्कृष्ट स्थिति होती है या जघन्य स्थिति होती है तब औपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं होता। उत्कृष्ट स्थितिमें तो योग्यता नहीं। जघन्य स्थिति बहुत ऊँचे साधुजनोंके होती, वहाँ औपशमिककी बात ही क्या है? तो औपशमिक सम्यक्त्व कब होता है कि जब अंतःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थितिके कर्म बँधते हैं तब वहाँ प्रथमोपशम सम्यक्त्व होनेकी योग्यता है।

एक सागर बहुत बड़ा काल है और उसका प्रमाण उपमासे जाना जाता है। एक दो हजार कोशका लम्बा चौड़ा गड्ढा हो और उसमें कोमल रोमके छोटे-छोटे टुकड़े, जिनका कि दूसरा टुकड़ा न हो सके, भर दिए जायें और उसमें ऊपरसे हाथी फिरा दिये जायें जिससे कि वे सभी रोम दब जायें। फिर प्रत्येक १०० वर्षमें एक रोम निकाला जाये तो सारे रोम निकालनेमें जितना समय लगे उसका नाम है व्यवहारपल्य। उससे असंख्यात गुना होता है उद्धारपल्य, उससे असंख्यात गुनाहोता है अद्धापल्य और एक करोड़ अद्धापल्यमें एक करोड़ अद्धापल्यका गुणा

करनेसे जो समय आयेगा उसका नाम है एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य, ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका नाम है एक सागर ऐसे एक कोड़ाकोड़ी सागरकी स्थिति बँधे तब जीवमें सम्यक्त्व उत्पन्न होनेकी योग्यता होती है। फिर वहाँ प्रायोग्यलब्धि बने, फिर और कम स्थिति बँधे, ऐसे जब ३४ बंधापसरण हो जाते हैं तब वहाँ करणलब्धि प्राप्त होती है और उपशमसम्यक्त्वकी योग्यता बनती है। करणलब्धिके मायने इतने ऊँचे परिणाम कि जो कभी नहीं हुए और एक विशिष्ट कालके लिए हो रहे हैं अधःकरण, अपूर्वककरण, अनुवृत्तिकरण। तो अधःकरणका जब अंतिम समय आता है तो चारों गतियोंके कोई भी जीव अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्व, इन ७ प्रकृतियोंका उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है।

औपशमिक सम्यक्त्व व क्षायिक सम्यक्त्वका निर्देश सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें निमित्त कारण तो होता है कर्मका उपशम आदि और बाह्य कारण होते हैं अनेक, जैसे जिनबिम्बका दर्शन, साधुओंका सत्संग, वेदनाका अनुभव आदि। ऐसे बाह्य कारण मिलें और अन्तरङ्ग कारण सम्यक्त्वघट सात प्रकृतियोंका उपशम प्राप्त हो तो उपशमसम्यक्त्व प्राप्त होता है, क्षय हो तो क्षायिक सम्यक्त्व व क्षयोपशम हो तो क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है, उपशमसम्यक्त्वमें ये कर्म बिल्कुल दब जाते हैं तो यों समझिये कि जैसे तैलमें नीचे गंदगी बैठ जाये तो तैल ऊपरसे पूरा निर्मल होता है लेकिन उसकी गंदगी शीशीमें नीचे बैठ जाती है। अगर उस शीशीको हिला दिया जाये तो वह सारा तैल उस कीचड़से फिर मलिन बन जाता है, इसी प्रकार जीवकी ये ७ कर्मप्रकृतियां दबी हैं तो उस समय सम्यग्दर्शन है, निर्मल है, लेकिन वे उखड़ जायें तो सम्यक्त्व मलिन ही नहीं बल्कि मिट भी जायेगा। लेकिन क्षायिक सम्यक्त्वमें ७ प्रकृतियोंका क्षय होता है, अतः यह सम्यक्त्व कभी नहीं मिटता है। जैसे शीशीमें तैलकी गंदगी नीचे बैठी है तो तैलका साफ भाग निकालकर दूसरी शीशीमें रख लिया जाये तो फिर उस साफ गंदा होनेकी सम्भावना नहीं है, इसी प्रकार जहाँकर्म हैं ही नहीं, उनका क्षय हो गया तो उनका क्षायिक सम्यग्दर्शन सदाके लिए निर्मल रहता है और क्षयोपशम सम्यक्त्वमें होता यही है कि उन ७ प्रकृतियोंमेंसे कुछ प्रकृतियोंका उदयाभावी क्षय है। कुछका उपशम है और कुछका उदय है, तो ऐसी स्थितिमें वह क्षयोपशम सम्यक्त्व कुछ मलिन रहता है, मगर सम्यक्त्व है। जैसे वही शीशीमें रखा हुआ तैल थोड़ा सा हिलानेपर कुछ मलिन रहता है। सम्यक्त्व ३ प्रकारके होते हैं। इस सम्यक्त्वके समयमें जब कि वह उत्पन्न होता है, प्रतिसमय गुण श्रेणी निर्जरा होती है, कर्म कई गुना खिरते रहते हैं और वहाँ इतने कर्म खिर जाते हैं कि अनन्त संसार नहीं रहता। उन खिरने वाले कर्मोंके प्रमाणकी बात देखी जाये तो इतने कर्म खिरेंगे कि आगे खिरनेके लिए थोड़ेसे कर्म शेष रह जाते हैं। इस मनुष्यमें तीन प्रकारके सम्यक्त्व प्राप्त करनेकी योग्यता है। वैसे चारों गतियोंमें उपशम सम्यक्त्व और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व तो होता ही है पर क्षायिक सम्यक्त्वको मनुष्य ही उत्पन्न कर सकता है। भले ही हम आप आज कल नहीं उत्पन्न कर सकते, लेकिन यह योग्यता मनुष्योंमें ही बतायी गयी है। केवली भगवान् श्रुतकेवली निकट हों तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्वसे क्षायिक सम्यक्त्व बनता है। इस तरह इन ७ प्रकृतियोंके उपशम और क्षयोपशम होनेसे औपशमिक और क्षायिक सम्यक्त्व होता है। अब क्षायोपशमिक सम्यक्त्व किस तरह होता है, उसका निरूपण करते हैं।

अणउदयादो छणहं सजाइ-रूवेण उदयमाणानां।

सम्मत्त-कम्म-उदये खयउवसमियं हवे सम्मं ॥ ३०९ ॥

क्षायोपशमिक सम्यक्त्वकी संभूति सम्यक्त्वका घात करने वाली ७ प्रकृतियाँ घातियाँ कर्मकी हैं और इनमें दो तरहके कर्म होते हैं सर्वघातीस्पर्धक, देशघातीस्पर्धक। जो समस्त सम्यक्त्वको नष्ट कर दे वह सर्वघाती

है और जो सम्यक्त्वको तो न नष्ट करे किन्तु उनमें दोष पैदा कर दे, थोड़ा धात करे उसे देशघाती कहते हैं, तो सर्वघाती स्पर्धकका यदि उदयाभावी क्षय हो अर्थात् उदय में आये इसमें ही तत्काल बदल जाये, उसका प्रभाव नहीं आ सके और आगामी जो उदयमें आ सकता है, उनका उपशम हो और देशघातीका उदय हो ऐसी स्थितिमें क्षायोपशमिक सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। अनन्तानुबंधीका वहां विसंयोजन होता है, याने अन्य अन्य रूपसे वह उदयमें आता है। इस कारण सम्यक्त्वकाघात नहीं होता और सम्यक्त्व प्रकृतिका उदयमें आता है। इस कारण सम्यक्त्वका घात नहीं होता और सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होनेसे उसमें चल, मलिन, अगाढ़ दोष उत्पन्न होता है। यों क्षयोपशमकी स्थिति होनेपर जीवके क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है, अब उपशम सम्यक्त्व रहता है अन्तर्मुहूर्त। यों समझिये कि ४-५ सेकेण्ड रहता है और क्षायिक सम्यक्त्व सदाकाल रहता है, जबसे हुआ तबसे सदा रहेगा और सिद्ध हो गए वहां भी क्षायिक सम्यक्त्व रहेगा। लेकिन संसार अवस्थामें कुछ अधिक ३३ सागर पर्यन्त ही वह रह सकता, उसके बाद उसका निवारण हो जायेगा। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ६६ सागर काल तक रह जाता है। यों सबसे उत्कृष्ट सम्यक्त्व तो है क्षायिक सम्यक्त्व और वर्तमान निर्मलताकी दृष्टिसे उपशम भी है मगर उपशम सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है, क्षायिक सम्यक्त्व कभी नष्ट नहीं होता। यों ये सम्यक्त्व इस जीवने अनेक बार पाये और मिट गए। पर क्षायिक सम्यक्त्व होनेके बाद फिर कभी मिटता नहीं है। तो अब बतलाते हैं कि ऐसी कौन-कौन-सी चीजें हैं जिन्हें जीवने अनेक बार प्राप्त की, पर क्षायिक सम्यक्त्व चारित्र पाये बिना इस जीवका संसारसे उद्धार नहीं हो सका।

गिणहृदि मुंचदि जीवो वे सम्मत्ते असंख-वाराओ।

पढम-कसाय-विणासं देस-वयं कुणदि उक्कसं ॥ ३१० ॥

उपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, विसंयोजन, देशब्रतका असंख्यातों बार ग्रहण व त्याग उपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशम सम्यक्त्वको इस जीवने असंख्याते बार ग्रहण किया और छोड़ा। इसी प्रकार अनन्तानुबंधी कषायका विसंयोजन भी इस जीवने असंख्यात बार किया और छोड़ा। और देश, संयम अणुब्रत, श्रावकके व्रत ये भी असंख्याते बार बार इस जीवने प्राप्त किये। भव्य जीव इन चारोंको अधिकाधिक पल्यके असंख्यातवे बार ग्रहण करता और छोड़ता। पल्यका असंख्याते बार अनगिनते बार हैं, लेकिन इसके बादमें वह जीव क्षायिक सम्यक्त्व व क्षायिक चारित्र प्राप्त करे मुक्त हो जाता है। हां क्षायिक सम्यक्त्व अवश्य ऐसा है कि उसे यदि कोई प्राप्त कर ले तो फिर अधिकसे अधिक ३ भव वह और धारण कर सकेगा। और कोई कारणवश यदि ३ भवमें मुक्त न हो सके तो चौथे भवमें मुक्त हो ही जायेगा। यों क्षायिक सम्यक्त्व होनेपर यह जीव चार भवसे अधिक नहीं रह सकता संसारमें, और शेष चीजोंको प्राप्त करके यह संसारमें रहता भी है। अब यह बतलाते हैं कि सम्यग्दर्शनमें श्रद्धान इस जीवको किस प्रकारसे होता है?

जो तच्चमणोयंतं णियमा सहहृदि सत्तभंगेहिं।

लोयाण पणह-वसदो ववहार-पवत्तणटठं च ॥ ३११ ॥

तत्त्वकी अनेकान्तमयता जो लोगोंके प्रश्नके वशसे व्यवहार चलानेके लिए सप्तभङ्गीके द्वारा अनेकान्तरूप तत्त्वका श्रद्धान करते हैं वे साधु सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। पदार्थ कैसे हैं? जैसे जीव नित्य है तो एक दृष्टि ऐसी आती है कि जीव अनित्य है। जीव चूँकि सदा रहता है, उसका कभी विनाश नहीं होता इस कारण नित्य है, किन्तु उसमें परिणतियां प्रति क्षण नवीव रहती हैं तो जो परिणति हुई वह आगे नहीं रहती, इस कारण वह अनित्य है।

तो जीव द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है और क्रमसे दोनों दृष्टियोंसे नित्य अनित्य है। एक साथ कहा जाये तो कहा नहीं जा सकता इसलिए अवक्तव्य है, और अवक्तव्य होनेपर भी नित्य समझमें आता है। उत्पादव्यय समझमें आनेपर भी, अवक्तव्य होनेपर भी, नित्य अनित्य दोनों तरह विदित होते हैं।

यों ७ भङ्ग होते हैं किसीका जवाब देनेमें, तो इस तरह अनेकान्त रूपसे जोकी तत्त्व श्रद्धा करता है उसको कहते हैं शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव। जैसे पहिले जीवको ही सिद्ध करें कि है या नहीं ता सप्तभंगी विधिसे सिद्ध होता है, अपना भाव है। तो अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे जीव है और परमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे जीव नहीं है, अर्थात् जीव पररूप नहीं है। किसी भी पदार्थकी सत्ता सिद्ध इसी तरह होती है। यह चौकी चौकीके रूपसे है और यह चौकी भीत पत्थर आदिकके रूपसे नहीं है। अब इन दो बातोंमें अगर एक न मानी जाये तो दोनों खतम हो जायेंगी। जैसे चौकी अपने चौकीके रूपसे है, यह न माना जाये तो चौकी क्या रहेगी? चौकी पत्थर भीतके रूपसे है, तब चौकी क्या रहेगी? तो किसी भी पदार्थका अस्तित्व इसी प्रकार सिद्ध होता कि वह अपने स्वरूपसे है और परस्वरूपसे नहीं है। तो ये दो भङ्ग हो गये। अपने स्वरूपसे अस्तित्व परस्वरूपसे नास्तित्व-इन दोनोंको क्रमसे बोल करके कहा जाये तो इसमें दोनों धर्म सिद्ध होते हैं, और दोनोंको एक साथ नहीं कह सकते, इस कारण अवक्तव्य सिद्ध होता है तो जब ये चार भङ्ग हो गये तो शेषके तीन भङ्ग भी यहाँ लग जाया करते हैं तो यों पदार्थ अनेकानन्त स्वरूप है।

एकान्ताग्रहमें व्यवहार व मोक्षमार्गकी असिद्धि अनेक दार्शनिकोंने जो अपना-अपना दर्शन बनाया है वह एकान्त कुछ पकड़कर ही बनाया गया है। जैसे जीव सदा रहता है या प्रतिक्षण मिटता रहता है? एक ऐसा प्रश्न हुआ तो किन्हीं दार्शनिकोंने तो यह कहा कि जीव सदा रहता है वहीका-वही। उसमें कुछ भी परिवर्तन नहीं होता, तो किसी दार्शनिकने यह कहा कि जीव तो क्षण-क्षणमें नया-नया होता है। जैसे क्रोध किया, अब क्रोधके बाद यह क्रोधी तो रहता नहीं, दूसरी कषायमें आ गया, तो इस दार्शनिकने यह मान लिया कि जो क्रोध करने वाला जीव था वह दूसरा था, अब मान करने वाला जीव दूसरा हो गया। लेकिन स्याद्वादी यह निर्णय देता है कि जीव तो वही है, पर परिणति बदल गयी। तो द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है और पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य है। स्याद्वादी यदि न माने तो लोगोंका व्यवहार भी नहीं बन सकता। यह लेनदेन जो चल रहा है वह स्याद्वादके बलपर ही तो चल रहा है। जिसको उधार दिया उससे हम दुबारा कब मांग सकते? जब इतना निर्णय हो कि यह वही मनुष्य है जिसे हमने उधार दिया था। जब उसकी नित्यता ज्ञात हो तब ही तो लेनदेन का व्यवहार चलेगा और वह ऐसा नित्य हो जरा भी परिणामन उसमें नहीं है तब भी व्यवहार क्या चलेगा?

व्यवहारकी प्रवृत्ति स्याद्वादके बलपर ही हो सकती, मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति भी स्याद्वादके ढंगसे होती है। मैं हूँ सदा रहूँगा और मेरेमें प्रति समय कोई न कोई अवस्था रहेगी। तब हमें मुझ होनेका उद्यम करना चाहिए क्योंकि मैं सदा तो रहूँगा, मिटूँ तो नहीं। और हमारी कोई न कोई अवस्था रहेगी। तो संसारकी चारों गतियोंका अवस्था बनाये रहें उसमे तो हमारी बरबादी है, अतः हमको ऐसा पुरुषार्थ करना चाहिए कि इन चारों गतियोंकी यह जन्म मरण छूटे। यह अभिलाषा कब हुई? जब हमने यह जाना कि मैं कथंचित नित्य हूँ और कथंचित अनित्य हूँ। यदि सदा एक सा ही रहने वाला हूँ तो मोक्ष पानेकी क्या जरूरत? और यदि मैं क्षण-क्षणमें नया-नया ही बन रहा हूँ तो मोक्ष पानेकी क्या जरूरत? जब एक शरीरमें जुदे-जुदे आत्मा होंगे तो पाप करेगा कोई दूसरी आत्मा और उसका फल भोगेगा कोई दूसरी आत्मा। पर ऐसा होता नहीं। जैसे एकका किया हुआ पाप दूसरा नहीं भोगता, इसी प्रकार

एक देहमें जो अनेक आत्मा उत्पन्न हो रहे, जैसा कि बौद्धजन मानते हैं, तो एकने किया पाप, दूसरा कोई भोगे। और जब भोग न सके तो किसीको माननेकी जरूरत ही क्या है? यदि सर्वथा नित्य माने तो मोक्ष धर्म नहीं बनता और सर्वथा अनित्य माने तो भी मोक्ष धर्म नहीं बनता। जब नित्यानित्यात्मक है पदार्थमें जीव, तब ही मोक्षमार्गमें और धर्ममें कदम चल सकती है।

जो आयरेण मण्णादि जीवाजीवादि णव-विहं अत्थं।

सुद-णाणेण णएहिं य सो सद्दिट्ठी हवे सुद्धो ॥ ३१२ ॥

सम्यग्दृष्टिकी तत्त्वविषयक यथार्थ मान्यता—सम्यग्दृष्टि जीव आदरपूर्वक जीव अजीव आदिक ९ प्रकारके अर्थोंको श्रुतज्ञान और नयोंको यथार्थ जानता है, उसको कहते हैं शुद्ध सम्यग्दृष्टि। जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप, ये ९ प्रकारके पदार्थ माने गए हैं। जीव किसे कहते? जहाँ चेतना हो। जीव स्वयं सत् है, वह अपने आप चैतन्यस्वरूप है। और, अपने ही स्वभावके कारण अपनेमें अपनी परिणति बनाता रहता है। सर्व पदार्थोंसे निराला है। अपने आपको भी देखिये इसी तरह मैं जीव सर्व पदार्थोंसे निराला ज्ञानस्वरूप हूँ और अपनेमें अपना उत्पादव्यय करता रहता हूँ। मेरा अन्य किसी पदार्थसे कोई सम्बंध नहीं है, इस तरह जीव तत्त्वकी श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है। जीवके साथ संसारमें अनादि परम्परासे कर्मका बन्धन लगा हुआ है। वे कर्म अचेतन हैं लेकिन वे स्वयं अपने आपमें स्वतंत्र सत् हैं, उन कर्मोंका परिणामन उनमें ही होता है। उनकी परिणति मुझमें नहीं होती। मेरा कर्ममें अत्यन्ताभाव है। कर्मका मुझमें अत्यन्ताभाव है। केवल निमित्तनैमित्तिक भावसे ऐसा हो रहा है कि कर्मका उदय होनेपर मुझमें रागादिक भाव होते और रागादिक भाव होने पर कर्ममें कर्मतत्त्वका बन्धन होता है। तो यों बन्धन लग गया है पर वस्तुतः कर्मका परिणामन कर्ममें हैं, मेरा परिणामन मुझमें है। यों कर्मकी सब बातोंको समझना यह कर्मकी सच्ची श्रद्धा है। आश्रव है और उन कर्मोंमें स्थित हो जाता है कि यह इतने वर्षों तक कर्म बना रहेगा, यह बंध कहलाता है। जब जीवका मोह उपशान्त होता है, ज्ञान वैराग्यमें जीव चलता है, तो कर्मोंका बन्धन रूक जाता है, यही संवर है और पहिले बँधे हुए कर्म झड़ जाते हैं, यह उसकी निर्जरा है और संवरपूर्वक निर्जरा होते होते कभी कर्म बिल्कुल निकल जाते हैं, आत्मासे, यही उसका मोक्ष है। अब रहे पुण्य और पाप, ये आश्रवके भेद हैं। जो कर्म बंधे हैं उनमें कुछ तो होते पुण्य कर्म, कुछ होते पापकर्म। पुण्यके उदयमें इन्द्रिय सुखकी सुविधा है, पापके उदयमें असुविधायें मिलती हैं, लेकिन ज्ञानी पुरुष जानता है कि न तो पुण्यसे मेरा निस्तारा होगा और न पाप से। पुण्य पापसे रहित केवल ज्ञानस्वरूप मैं अपने आपका अनुभव करूँ तो इस अनुभवके द्वारा ही मेरा संसारसे निस्तारा हो सकता है।

जो ण य कुव्वदि गव्वं पुत्त-कलत्ताइ-सव्व-अत्थेसु।

उवसम-भावे भावदि अप्पाणं मुण्णदि तिण-मंतं ॥ ३१३ ॥

ज्ञानी पुरुषकी वास्तविक अमीरी जो पुरुष पुत्र कलत्र आदिक सर्व पदार्थोंमें घमंड नहीं करता है और अपनेको उपशम भावमें भाता है व वर्तमान व्यक्तरूप अपनेको तृणवत् मानता है, वह पुरुष सम्यग्दृष्टि है। वही इन बाह्य सब पदार्थोंको तृणवत् सारहीन मान सकता है। जिसने सर्व पदार्थोंसे निराला अपने आपमें सहज ज्ञानमात्र अपने आपकी प्रतीतिकी है और जिसकी यह धुन बनी है कि यह मैं इस निज स्वरूपमें समा जाऊँ। मेरा ज्ञान इस ज्ञानस्वभावको ही जाना करे, यही एक मात्र आवश्यक है यह जानकर जिसकी धुन अपने आपमें बन गयी है वह पुरुष जगतके वैभवोंका क्या मूल्य करेगा? आत्माका कल्याण पानेके लिए आनन्द इसी बातमें है, यही

कुञ्जी जिसको प्राप्त हो गयी है वह अपने अन्दर तृप्त रहता है और अपनेको अमीर अनुभव करता है। जिसे कुछ न चाहिए हो वही तो अमीर कहलाता है। वैभवके रहनेपर वैभवके कारण अगर अमीर बताया जाये तो इसको कोई सिद्ध नहीं कर सकता। इसकी परिभाषा नहीं बनाई जा सकती कि अमीर कौन है? लखपति अमीर जँचता है हजारपतियोंको, करोड़पति अमीर जंचता है लखपतियोंको, सभी लोग अपनेसे अधिक धनिकोंको देखकर अपनेको गरीब अनुभव करते हैं। अमीर तो वह है जिसको कुछ न चाहिए हो। इस परिभाषामें से आप अमीरपने का निश्चय कर सकते हैं। जिस जीवको दुनियामें परमाणुमात्र भी बाह्यसंग न चाहिए, जिसने सारभूत अपने ज्ञानस्वरूपका अनुभव किया है और जाना है कि यही मेरा सर्वस्व है और यह अनुभवा कि इसके अतिरिक्त मुझे और कुछ न चाहिए, वास्तवमें अमीर वह है। जो लोगोंको निरखकर लोगोंसे अपने बड़प्पनकी आशा रखते हों या मैं इन लोगोंमें कुछ अच्छा कहलाऊँ ऐसी भावना रखते हों तो उनके तो मिथ्या अज्ञानका अंधकार बना हुआ है। रही यह बात कि जरूरत माफिक चाहिए यह सब कि जहाँ रहते हैं उस बीच हमारी सही पोजीशन रहे, इसकी आवश्यकता तो है। तो जो पुरुष अपने मोक्षमार्गमें चल रहा है उसके इतना पुण्य अवश्य होता है कि लौकिक पाजीशन भी उसके यथायोग्य बनी रहती है। उसके लिए अलगसे कुछ उद्यम नहीं करना होता है। कोई उद्यम करके धनार्जन नहीं करता। उदय हो तो उसका साधन बनता है, तो वास्तविक अमीर वह है जो संसारमें कुछ भी पदार्थ चाहता नहीं।

ज्ञानस्वरूपका आदर करने वालोंका स्पष्ट प्रतिबोध भीतरमें जिसकी यह धुन है कि मेरा ज्ञानस्वरूपमें समा जाये बस इसीमें ही पूर्ण आनन्द है। कोई यदि यह कहे कि इस तरहकी स्थिति बनायेंगे तो मरण हो जायेगा। यह शल्यकी बात नहीं, इस स्थितिमें मरण भी हो जाने दें इसीमें आनन्द है? कोई यों शंका करेगा कि खुद खुदमें समा गया तो फिर बाह्यका कुछ ध्यान ही न रहेगा। फिर तो घर बिगड़ेगा, तो रहने दो, बिगड़ने दो, बिगड़ता कुछ नहीं है, तुम्हारा तो भला हो जायेगा, आनन्द हो जायेगा। किसी भी क्षण यदि वह अपने स्वरूपमें समा जाये और इसको बाहरमें कुछ भी पता रहे तो इसका बिगाड़ नहीं है, किन्तु उद्धार ही है। तो ऐसा जानकर जो सम्यग्दृष्टि जीव बाह्य कलत्र पुत्र मित्रादिकमें किसी प्रकारका गर्व नहीं करता, मेरे इतने बच्चे हैं, ऐसा घर है, ऐसा धन वैभव है, ऐसी पोजीशन है। अरे ये सब तृण मात्र चीजें हैं, किसका गर्व है? जिसको जो मिल गया, मिल गया, उदय है, मगर सारभूत कुछ नहीं है। बड़ीसे बड़ी पोजीशन जिनको मिल जाये वहां भी हित और सार नहीं मिलता है। तो जो बाह्यपदार्थोंको असार जानकर उनमें गर्व नहीं करता वह पुरुष सम्यग्दृष्टि है। शत्रु मित्र सभीमें समान परिणाम रहता है। वह शान्त भावकी भावना रखता है, शुद्ध परिणाम रूपसे परिणमता है और अपने प्राप्त पोजीशनको तृण मात्र समझता है, जिसे कहते हैं कि न कुछ। अपनेको न कुछ माननेका अर्थ है कि इस पर्यायको वह न कुछ मानता है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवके बाह्यपदार्थोंसे परम उपेक्षा रहती है, मैं अकिञ्चन हूँ इस प्रकारकी भावना रहती है। मेरा बाहरमें कहीं कुछ नहीं है, मैं केवल मैं ही हूँ इस प्रकारका उसका स्पष्ट प्रतिबोध रहता है।

विषयासत्तो वि सया सव्वारंभेसु बट्टमाणो वि।

मोह-विलासो एसो इदि सव्वं मण्णहेय ॥ ३१४ ॥

मोहविलासकी हेयता विषयोंमें आसक्त होने वालोंका, समस्त आरम्भोंमें प्रवृत्ति करने वालोंका देखो यह मोहका विलास कितनी विडम्बना कराने वाला है, ऐसा समझकर इन सबको वह हेय समझता है। लोग विषयोंमें आसक्त हो रहे हैं तो वहाँ यह निरखना है कि यह जीव तो जीवमें है, ये बाह्य विषय विषयमें हैं, इसका उससे कुछ भी सम्बंध है नहीं, फिर भी अपने आपके प्रदेशमें रहते हुये ये मोही जीव कितना अपनेको निर्धन निःसार

अनुभव कर रहे हैं? बाहरमें सुखकी आशा करते हैं और सुख मानते हैं। जो अपनेको अपने सहज आनन्दसे लबालब भरा हुआ मानता है वह रीता नहीं है, वह तृप्त है, भरा हुआ है, आनन्दमय है। जिस जीवको अपने उस सहज परम आनन्दकी खबर नहीं है ऐसा पुरुष ही बाहरी सुखकी आशा रखता है। लोग व्यर्थ घबड़ाते हैं कि मुझपर बड़ी विपदा आयी है। अरे विपदा बाह्यपदार्थसे नहीं आती। अपने आपकी सुध भूले है इसलिए घबड़ाते हैं और मानते हैं कि मुझपर बाह्यपदार्थसे यह विपदा आयी हुई है। जब इस अमूर्त जीवमें किसी भी बाह्यपदार्थका प्रवेश नहीं हो सकता तो विपदा कहाँसे आयेगी? जिसको शरीरवेदनासे कुछ पीड़ा होती है और अपनेमें विपदा अनुभव करते हैं उनका भी यही हाल है इस अमूर्त जीवमें इस शरीरसे कुछ भी विपदा नहीं आ सकती है। लेकिन दृढ़ता नहीं है, इतना ज्ञानप्रकाश नहीं है अतएव जैसे साधारणजन किसी बाह्यपदार्थसे अपनेमें विपदा मानते हैं तो यह भी इस शरीरकी वेदनासे अपनेमें विपदा मानकर दुःखी होते हैं। जिन साधुओंका ऐसा चरित्र है कि जिन्हें शेरनीने भखा, स्यालिनीने भखा, जिनके सिरपर अंगीठी जलाई गई, जो घरमें बंद करके जला दिए गए, लेकिन उनको केवल ज्ञान हुआ। कहीं विपदाके समयमें विपदाका अनुभव करते हुएमें कुवलज्ञान हो सकता है? शुद्ध आनन्दकी प्राप्ति शुद्ध आनन्दके अनुभवसे ही हो सकती है। उन साधुजनोंको परम आनन्द था, तृप्ति थी। वे अपने स्वरूपको स्पष्ट निरख रहे थे, जहाँ किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है ऐसे अपने स्वरूपको जान रहे थे, उन्हें केवलज्ञान हुआ। तो शरीरसे उन्हें कुछ विपदा आयी क्या? यहाँ हम आप जो कभी थोड़ा कायरपनेकी बातें करने लगते हैं “शरीर अच्छा होगा तो सब धर्मसाधन होगा, शरीरपर ही सब कुछ धर्म करना आधारित है,” ये कमजोरीकी स्थितिकी बातें हैं, जब दृढ़ता नहीं है तो यह कथन भी कथंचित् सत्य है कि शरीर स्वस्थ होगा तो धर्मसाधन करते बनेगा, मगर यह शाश्वत सत्य नहीं जिनको इतना स्पष्ट भेदविज्ञान जग गया कि यह मैं ज्ञानमात्र अमूर्त आत्मा स्वतंत्र निरापद हूँ, इसमें बाह्यसे कुछ नहीं आता और मुझे किसी बाह्यकी कुछ चाह नहीं है, बाह्यकी धुन नहीं है, जो जीनेकी भी आशा नहीं रखता, किसी भी बाह्य तत्त्वको अपना परमात्मा नहीं मानता, ऐसी दृढ़ प्रतीति वाले जीवको शरीर वेदनासे भी कोई बिगाड़ नहीं होता।

अपने निरापदस्वरूपको निखरने वालेके बिगाड़की असंभवता बताया यहाँ यह जा रहा है कि ज्ञानी जीव अपने निरापद स्वरूपको निरख रहा है। इस कारण सबको हेय समझता है। लोग सोचते हैं कि अभी कुछ थोड़ा और जिन्दा रह जावें, अभी इतना काम और करनेको पड़ा है घर, दुकान, परिवार समाज आदिका, तो ऐसा सोचने वाला व्यक्ति अभी मोहमें है। अभी मैंने धर्म नहीं कर पाया, अभी मैंने ज्ञानार्जन नहीं किया, धर्मको अच्छी तरह नहीं कर पाया, मुझे अभी जीवनकी क्या जरूरत है, ऐसा सोचने वाला व्यक्ति यद्यपि उतना मोही नहीं है, किन्तु उसका भी यह मोहका ही प्रलाप है। जो उद्यत हैं, तैयार हैं, पुरुषार्थी हैं, मोक्षमार्गके सुभट हैं, उनका तो यह निर्णय है कि मेरा कारण इसी समय आ जाये तो आ जाये, कोई फिक्र नहीं है। यह तो बड़ी अच्छी बात है कि हम सावधान हैं और हमारी दृष्टि इस निजस्वरूपमें जा रही है, हमें उस धुनका आनन्द मिला है। ऐसी स्थितिमें किसीका मरण हो तो उसका बिगाड़ क्या? रही यह बात कि जिस सम्पर्कमें रह रहे हैं वह बिछुड़ जायेगा, तो बिछुड़ा हुआ तो अभी भी है। अब उनका क्या होगा, ऐसी शंका न रखना, क्योंकि सभी जीवोंका अपना-अपना पुण्य पृथक्-पृथक् है। बड़े घरानेके बच्चे बड़े लाड़प्यारसे पाले जाते हैं फिर भी बड़े दुर्बल रहते हैं और भिखारियोंके बच्चे जो मिट्टीके डलोंपर लोटते हैं वे खूब हृष्टपुष्ट रहते हैं, तो सबका अपने-अपने ढंगमें उदय न्यारा-न्यारा है। किसी बालकको अगर कोई जंगलमें फेंक दे, पर उसका उदय अनुकूल है तो देवता उसकी

रक्षा करते हैं। ऐसे अनेक उदाहरण पुराणोंमें मिले हैं और एक उदाहरण तो अभी कुछ ही वर्षों पहिलेका है जब कि भारत देश छोटे-छोटे राज्योंमें विभक्त था। बुन्देलखण्डमें एक राजमाता राज्य करती थी उनके अपने पतिके मर जानेके बाद तो तभी उस राजमातापर किसी मुगलने आक्रमण कर दिया। उससे मुकाबला करनेके लिए वह राजमाता युद्धके लिए निकल पड़ी, पर उन दिनों उसके पेटमें गर्भ था, बच्चा उत्पन्न होनेके दिन थे, उस युद्धस्थलमें ही उसका पेटदर्द शुरू हो गया, अब राजमाता सोचने लगी कि बच्चा यदि यहाँ पैदा होता है तो हत्यारों द्वारा यह मार डाला जायेगा, इसलिए युद्धस्थलको छोड़कर वह बाहरकी ओर भागी। रास्तेमें ही बच्चा पैदा हो गया, उसे एक झाड़ीमें फेंककर वह राजमाता कहीं दूर निकल गई। ७ दिनके बाद वह राजमाता लौटकर आती है तो अपने बच्चेको खूब हृष्टपुष्ट खेलता हुआ पाती है। हुआ क्या था कि जिस जगह वह बच्चा फिंक गया था। सो शहदकी एक-एक बूँद उस बच्चेके मुखमें प्रवेश कर रही थी। उसीसे बच्चा पुष्ट रहा। तो देखिये कैसा उसका उदय था? सबका उदय न्यारा-न्यारा है। तो किसकी फिक्र करना? अगर किसीके पापका उदय है तो कितना ही आप उसे सुखसुविधायें प्रदान करेंपर वह ज्योंकात्यों दुःखिया रहेगा।

ज्ञानीकी दृष्टिमें अमीरी और गरीबी सम्यग्दृष्टि पुरुष तो ऐसा अनुभव करता है कि यहाँ मेरे पर तो कोई भार नहीं है, मैं तो एक अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ, इस मुझपर किसी परसे कोई विपदा नहीं आती। ऐसा निरापद ज्ञानमात्र अपने आपको निखरता है। यहाँ हम आप इतना साहस नहीं बनाते हैं कि यहां किसी भी पड़ोसी, देशवासी, मित्रजन आदिसे अपने बड़प्पनकी चाह न रहे। यह हिम्मत नहीं जगती कि सर्वसे उपेक्षा करके अपने आपके स्वरूपमें समा सकते हैं। चाहे सारा जहान प्रशंसा करे तो उससे इस जीवको लाभ क्या मिलता, अथवा सारा जहान इस जीवकी निन्दा करे तो भी इसका बिगाड़ क्या होता? जिसने अपने उस ज्ञानानन्दस्वरूपका अनुभव किया है वह अमीर है और जिनकी दृष्टि बाहर ही बाहर डोल रही है वे गरीब हैं। बाहरमें उनको कैसी ही स्थिति मिली हो, वे गरीब हैं। ज्ञानी पुरुष जानता है कि ये मोही प्राणी इन विषयोंमें आसक्त हो रहे हैं। खुद खुदमें है, विषय विषयमें है, किसीसे कुछ सम्बंध नहीं हैपर अपने आपके भीतर न समाकर बाहरमें कुछ आशा बना करके ये मोही प्राणी दुःखी हो रहे हैं। आरम्भ परिग्रहके कार्योंमें लगे हुए ये जीव कितना दुःखी हो रहे हैं। आरम्भ परिग्रहके कार्योंमें लगे हुए ये जीव कितना दुःखी हैं। ये दुकान, ये कारखाने, ये बड़े-बड़े वैभव जो मिले हैं ये इस जीवके क्या लगते हैं? इस जीवको समझने वाला यहाँ है कौन? यह अज्ञानी प्राणी परवस्तुओंकी आशा कर करके अपनेमें रीता बन गया। यह अपने ज्ञानानन्दस्वरूपकी सुध नहीं रख रहा। तो बाहरमें इतना आरम्भ परिग्रहमें वृत्ति रखना यह तो मोहका विलास है। लोग तो बड़े आदमियोंको (धनिकोंको) देखकर यह विचार बनाते हैं कि ऐसे ही ठाठ, ऐसी ही अमीरी हमें भी मिले, पर सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष इन ठाठबाटोंको देखकर उनपर दया कर रहा है कि ये बेचारे कितने दुःखी हैं? अपने आपके स्वरूपसे बाहर इनका ज्ञान दौड़ रहा है, अहो इन बेचारोंकी बड़ी दयनीय स्थिति है। तो देखिये ज्ञान और अज्ञानकी धारामें ज्ञानी और अज्ञानीमें कितना अन्तर है? ज्ञानी पुरुष इन सब बाह्य प्रसंगोंको हेय समझता है।

उत्तम गुण-ग्रहण रओ उत्तम-साहूण विणय संजुत्तो।

साहम्मिय-अणुराई सो सद्दिद्वी हवे परमो ॥ ३१५ ॥

ज्ञानी पुरुषकी दृष्टि और वृत्ति जो उत्तम गुणोंके ग्रहणमें रत हैं, उत्तम साधुवोंके विनयसे संयुक्त हैं,

साधर्मी जनोमें जो अनुराग रखते हैं वही सत्यदृष्टि वाले उत्कृष्ट पुरुष कहलाते हैं। श्रम भी क्या करना है? वीतरागता, शुद्ध ज्ञानप्रकाश, जिनका सम्बंध समस्त सदाचारसे है, ऐसे उत्तम गुणोंके ग्रहणकी ही जिनकी धुन बन गई है। ऐसे वे पुरुष उत्तम मुनि श्रावक आदिकके जो गुण हैं उनमें रुचि रखते हैं, इसी कारण वे साधर्मी जीवोंमें विनयपूर्वक रहते हुए उनकी सेवा करते हैं। जिनको साधुके गुणोंपर दृष्टि होगी, भक्ति उनके ही जगेगी, साधुवोंकी वास्तविक सेवा वे ही कर सकेंगे और अपने आपमें गुणोंका वे ही बढ़ा सकेंगे जिनको दूसरेके गुण भी उत्तम दिख रहें और अपने आपका स्वरूप भी नजरमें आ रहा है। ऐसे पुरुष सम्यग्दृष्टि होते हैं। सम्यग्दृष्टिके बाह्य चिह्न बताये जा रहे हैं।

अज्ञानियोंकी दयनीय स्थिति वे पुरुष तो दयनीय स्थितिके हैं जो मानते हैं कि ये मेरे बच्चे हैं, यह मेरी स्त्री है, इनके लिए मेरा तन, मन, धन, वचन सर्वस्व है, बाकी जीव तो गैर हैं, ऐसा जिनका भाव बना है वे तो गरीब हीन दयापात्र पुरुष हैं, वे बड़ी विपदामें पड़े हुए हैं, वे संसारके भँवरमें डूब रहे हैं, उनको कोई प्रकाश प्राप्त नहीं हो रहा है। उनका जीना भी मरना है, उनके जीवनसे उनको क्या लाभ? उनके जीवनसे दूसरोंको क्या लाभ, जो इतने मोही हैं, जो घरके लोग हैं वे ही जिनको सब कुछ नजर आते हैं, और जगतके जीव गैर नजर आते हैं। इस जीवपर अनादि वासनासे ऐसा मोह पड़ा हुआ है कि जिसके कारण इसको सन्मार्ग प्राप्त नहीं होता। उस प्रसंगको धिक्कार है जिसकी यह द्वैतबुद्धि भीतरसे उत्पन्न होती है और कभी भी कभी भी यह भावना नहीं बना पाता कि जैसे अन्य जीव सब गैर हैं इसी प्रकार घरमें बसने वाले जीव भी गैर हैं, मुझसे निराले हैं। यदि घरके परिवार जनोंकी भाँति दूसरेपर भी प्रेम नहीं उमड़ाया जा सकता है तो इस ओरसे भी समानताका भाव लेवें कि जैसे जीवके जीव गैर हैं उसी प्रकार ये घरके जीव भी गैर हैं, गैर मानें तो सबको और अपने स्वरूपके समान मानें तो सबको। जो पुरुष इन जीवोंमें इतना भेद डाल देते हैं कि ये ही मेरे सब कुछ हैं, इनके लिए ही मेरा जीवन है वे पुरुष दयनीय हैं, हीन हैं, संसारी हैं, जन्म-मरणकी परम्परा करने वाले हैं। ऐसी दयनीय दशा धनिकोंकी प्रायः करके हो जाती है, क्योंकि जहाँ संग है वही प्रसंग है वहाँ ही यह मोह पुष्ट होता है। यह नियमकी बात तो नहीं कह रहे लेकिन ये बाह्यप्रसंग ऐसे ही हैं कि अनेक अवगुणोंको हृदयमें बसा दें, गरीब भी हैं और वे भी उपयोग ऐसा रखते हैं, तृष्णा करते हैं तो वे भी धनिकों की तरह ही दयनीय हैं।

यथार्थ दृष्टा की सम्पन्नता जो अपनेको ज्ञानानन्दस्वरूप अनुभवता है और यह निर्णय किए हुए है कि इस मुझ आत्मारामको बाह्यपदार्थकी किसीकी आवश्यकता नहीं है। मैं अपने आपमें ही निरन्तर रत रहूँ, उसीमें तृप्त रहूँ, ऐसी जिसकी कामना है वही पुरुष उत्कृष्ट है, सम्यग्दृष्टि है। जो साधर्मी जनोमें अनुराग रखते हैं, जैनधर्मके आराधक पुरुषोंमें जिनका वात्सल्य है वे पुरुष सम्यग्दृष्टि हैं। जिन धर्मके मायने जो रागद्वेष रहित भगवानने तत्त्व बताया है उस तत्त्वकी ओर जो लगे हैं वे कहलाते हैं जैनधर्मके आराधक। केवल जैनकुलमें उत्पन्न होनेसे वे जैनधर्मके आराधक न कहलाने लगेंगे। अथवा जो जैन मजहबमें पैदा नहीं हुए वे जैनधर्मके आराधक न बन सकेंगे, यह भी नियम न होगा। जिनकी वस्तुस्वरूपके यथार्थ दर्शनसे प्रीति है, ज्ञान और वैराग्यमें जिनका उमंग है वही पुरुष जैन धर्मका आराधक है। ज्ञानी पुरुष अपने आपको ज्ञानानन्दवैभवसे सम्पन्न अनुभव करता है इसी कारण वह अमीर है, और जिनको आत्मस्वरूपकी सुध नहीं है वे चाहे चक्री भी हो जायें, वे चाहे कितना ही कुछ वैभव प्राप्त कर लें फिर भी दयनीय हैं, गरीब हैं, क्योंकि उन्हे संतोष मिल ही नहीं सकता।

**देह-मिलियं पि जीवं णिय-णाण-गुणेण मुणदि जो भिण्णं।
जीव-मिलियं पि देहं कंचुव-सरिसं वियाणेइ ॥ ३१६ ॥**

देहमिलित भी जीवका निजज्ञानगुणसे भिन्नरूपतया बोध जो भव्य जीव देहसे मिले हुए भी अपने आत्माको भेदविज्ञानके भिन्न जानता है वह जीव सम्यग्दृष्टि है। यह जीव अनादिसे अब तक शरीरमें बंधा हुआ चला आया है। शरीर ५ प्रकारके कहे हैं औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण। तैजस और कार्माणसे ता सदा बंधा हुआ यह जीव आया, किसी भी क्षण इनसे अलग न हो सका। जैसे जब मनुष्यका मरण होता है तो उसका देह यहीं रह जाता है, मगर जीवके साथ तैजस और कार्माण शरीर जाता है तो मरनेपर यह जीव अकेला जाता हो सो नहीं। तैजस और कार्माण शरीर वहाँ भी रहता है रास्तेमें और जहाँ जन्म लेता है वहाँ फिर नया शरीर मिलता है। तो शरीर यों दो प्रकारके कह लीजिये सूक्ष्म और स्थूल। तो इस प्रसंगमें सूक्ष्म शरीर तो समझिये तैजस और कार्माण और स्थूल शरीर हुए ये औदारिक, वैक्रियक, आहारक। आहारक भी सूक्ष्म है, पर इससे भी सूक्ष्म तैजस कार्माण हैं तो यह जीव देहके मिला हुआ सदा रहता है जब तक इसकी मुक्ति न हो, पर औदारिक आदिक शरीरोंसे कभी मिला हुआ रहता है कभी उसे छोड़ देता है, पर निग्रह गति पूर्ण होनेपर दूसरा शरीर अवश्य मिल जाता है। तो यहाँ इस देहमें मिले हुए जीवको भी भेदविज्ञानसे यों जानना है कि शरीर न्यारा है, मैं न्यारा हूँ। भेदकी पहिचान लक्षणसे होती है। तो शरीरका लक्षण जुदा है और मुझ आत्माका लक्षण जुदा है। शरीर अचेतन है, जानने समझने वाला नहीं है। जीव चेतन है, यह जानता और समझता है।

जीवकी देहसे भिन्नताके सम्बन्धमें शंका व समाधान कुछ लोग ऐसी आशंका कर सकते हैं कि जीव न तो कभी दीखा और न उसका कोई स्पष्ट लक्षण मिला तो जीव क्या है उनकी मान्यता में? ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, ये शरीर है, ये पेंच पुर्जा सब इकट्ठे मिल गए तो इसमें फिर कोई जानने देखने वाली ताकत उत्पन्न हो गयी, और वे दृष्टान्त दे सकते हैं कि जैसे घड़ीके पेंच पुर्जे न्यारे-न्यारे रखे हैं तो नहीं चलते हैं और जब उन्हें फिट कर देते हैं तो वह चलने लगते हैं। ऐसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि ये अलग अलग रह रहे तो इनमें जानने वाला नहीं बनता और इकट्ठे हो जायें, फिट बैठ जायें तो जाननेकी बात बनने लगती है। ऐसा कहनेपर इस जीवतत्त्वके निषेधकी आशंका कर सकते हैं, लेकिन जब लक्षणोंपर विचार करते हैं तो यह आशंकायुक्त नहीं बैठती। भले ही घड़ीके पेंच पुर्जे मिल गए तो घड़ी चलने लगी, तो जो वहाँ चलना है वह पेंच पुर्जोंकी ही तो क्रिया है। सो पेंच पुर्जे जिस रूपमें हैं उसी रूपकी क्रिया बनेगी। पर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये तो जानने देखने वाले नहीं हैं। तो इनके मेलसे विजतीय बात कैसे बन जायेगी? जिसमें जो धर्म है उससे वह ही धर्म प्रकट हो सकता है। तो जानन देखनहार कोई तत्त्व इस शरीरसे पृथक् है। जिसमें सुख दुःखकी बुद्धि होती है, अनेक वितर्क विचार उठते हैं, ऐसा यह जीव इस शरीरसे निराला है।

देहसे भिन्न जीवके परिज्ञानमें सम्पन्नता तो औदारिक शरीरसे संयुक्त हुये भी आत्माको अपने ज्ञान गुणके बलसे जो भिन्न जानता है वह सही दृष्टि वाला है। जीवका गुण है ज्ञानदर्शन और शरीरका धर्म है रूप, रस, गंध, स्पर्श। तो यों स्व और परका भेद ज्ञान कराने वाले ज्ञानगुणके द्वारा जो जीवको पृथक् रूप समझता है वह सम्यग्दृष्टि है। दूसरी निरख यों चलती है ज्ञानीकी कि यह शरीर इस प्रकार है जैसे कि किसी पुरुषका कोट कुर्ता वगैरह। कोट कमीज आदिकमें, पैन्ट आदिकमें पूरा पुरुष समाया है, लेकिन पैन्ट कोट आदि भिन्न चीजें हैं, और वह पुरुष भिन्न चीज है, यह दृष्टान्त प्रसिद्ध दृष्टान्त है, जिसे कोई मना नहीं कर सकता। कपड़ा अलग है,

पुरुष अलग है। इसी प्रकार इस शरीरमें जो जीव रह रहा है तो शरीर कोट आदिककी तरह जीवसे निराला है और यह जीव (पुरुष) देहसे निराला है। तो जो जीवसे मिले हुए शरीरको कोट कमीजकी तरह जानता है कि जैसे सफेद पीला हरा आदिककिसी रंगका वस्त्र पहन लिया तो वह वस्त्र ही तो हरा, पीला है, पुरुष हरा-पीला नहीं हो जाता, इसी प्रकार जीवके आश्रित जो शरीर है उसमें जो रूप रंग आदिक हैं वे शरीरके हैं, जीवके नहीं हो जाते। तो यों जो शरीरसे निराला जीवको जानता है वह सम्यग्दृष्टि है। संतोष, आनन्द, अनाकुलता आदि भी इसी कलामें प्राप्त होते हैं। जब अपने आपको ज्ञानस्वरूप अनुभव किया, मैं ज्ञानमात्र हूँ, परिपूर्ण हूँ, सम्पन्न हूँ, स्वरक्षित हूँ, अमर हूँ, निरापद हूँ, मुझमें किसी दूसरी चीजका प्रवेश नहीं, जब इस विचारपर दृढ़ रहता है कोई पुरुष, तो उसके अनेक संकट दूर हो जाते हैं, और जिनको अपने आत्माका बोध नहीं है वे संसारकी स्थितिमें पहुंच जायें वे तृप्त, संतुष्ट, अनाकुल नहीं हो सकते।

णिज्जिय दोष देवं सव्व-जिवाणं दयावरं धम्मं।

वज्जिय गंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सहिट्ठी ॥ ३१७ ॥

परमात्मदेवमें क्षुधा तृषा दोषकी अनुपपत्ति जो पुरुष देव, धर्म और गुरुको जैसा उनका स्वरूप है उस ही स्वरूपको मानता है वही समीचीन दृष्टि वाला है। देव तो निर्दोष हुआ करते हैं। दोष १८ प्रकारके बताये गए हैं, जो संसारी जीवोंमें पाये जाते हैं वे अठारहों प्रकारके दोष जहाँपर न हों वे भगवान कहलाते हैं। वे १८ प्रकारके दोष कौन कौनसे हैं, उनका नाम सुनते हुए यह भी विवेचन करते जाना चाहिए कि हाँ ऐसा कौन हो सकता है? पहिला दोष है क्षुधा। जिसके भूख लगती हो वह भगवान कैसे? बहुतसे लोग भगवानके चरित्रमें अनेक घटनायें बताते हैं कि इसने अमुकके बेर खाये, इस भगवानने अमुकका भोजन किया। भले ही पूर्व अवस्थामें आहार किया है, लेकिन जबसे परत्मापन प्रकट हो जाता है तबसे उनका आहार नहीं होता। भूख उनके नहीं होती। भूख भी तो वेदना है। यदि क्षुधा लगे तो इसके मायने यह है कि प्रभुको पीड़ा हुई। जिसमें पीड़ा हो वह हम संसारियोंसे विलक्षण कैसे हो सकता है? तो जिसमें क्षुधा दोष पाया जाया वह देव नहीं है; अर्थात् पूज्यनीय, आदर्श, उपासनीय देव नहीं है। दूसरा दोष है तृषा। प्यासका दोष भी पीड़ा करने वाला दोष है, क्षुधा और तृषामें इतना अन्तर है कि क्षुधा तो बीचकी पीड़ा है और प्यास छोटीसे छोटी और बड़ीसे बड़ी पीड़ा है। यों समझिये कि हल्की भूख हो तो उसमें वेदनाको सह सकते हैं, तेज भूख हो तो वह भी प्यासके मुकाबलेमें वेदना सही जा सकती है। क्षुधाके यदि दो नम्बर हैं तो तृषाके चार नम्बर हैं। प्यास तो मंद, मंदतर और तीव्र, तीव्रतर होती हैपर भूखके दो ही प्रकार हैं हल्की भूख और तेज भूख। इस प्रकार भूखके तो दो दर्जे हैं और प्यासके चार दर्जे हैं। ऐसी भूख और प्यासकी वेदनायें जिसमें लगी हों वह प्रभु कैसे कहा जा सकता है?

परमात्मदेवके भय, द्वेष, राग, मोहकी अनुपपत्ति तीसरा दोष है भय। जिन देवोंके चरित्रमें भयकी बात बतायी जाती है कि अमुक देवता डरा और डर कर दूसरेके पास पहुंचा। उसने उसकी रक्षा की। तो ऐसा भगवान जीव परमात्मा नहीं कहा जा सकता। प्रभु ज्ञानमात्र आनन्दमय होते हैं। यदि वे शरीरसहित हों तो भी उनका दिव्य शरीर परकी बाधासे रहित, और शरीररहित परमात्मा हैं सिद्ध प्रभु तो वे भी निर्वाध हैं। तो जो देव है, परमात्मा है उसके भय नहीं हो सकता। विरोध हो, द्वेष हो, बैर हो, ऐसी कलुषतायें जिसके परिणाममें आयें उसे देव कहा जा सकता है क्या? जो लोग देवकी घटनायें बताते हैं कि अमुक देवताने अमुकका संहार किया तो द्वेष भाव होनेके कारण उनको प्रभु न कहा जा सकेगा। पाँचवाँ दोष है राग। जिसके चरित्रमें राग भरी बातें हों, भगवान हैं, भगवती

हैं और दोनों पति-पत्नी साथ-साथ रहते हैं, वार्तालाप होता है और यहाँ तक बता डालते हैं कि उनके बच्चे भी होते हैं तो परमात्माके स्त्री हों और बच्चे हों यह बात सम्भव नहीं है। जो लोग भक्ति भी करते और देवका स्वरूप भी यों मानते वे अज्ञान अंधेरेमें पड़े हैं, जो अपने ही समान रागी द्वेषी देवताओंको मानते हैं। कहते तो हैं ऐसा लोग कि भगवती फते करे लेकिन भगवतीका अर्थ तो भगवानकी परिणतियोंसे है असलमें। जो भगवानकी विशुद्ध परिणति है वह विजय करे, अर्थ तो यह है, लेकिन जिसने भगवानके चरित्र ही ऐसे गढ़ रखे हों-उनका विवाह होता है, स्त्री होती है, वे दोनों साथ रहते हैं, तो ऐसा मानने वाले लोग उस तत्त्व तक कहाँ पहुंचेंगे? वे तो सीधा किसी स्त्रीको ही भगवती मानेंगे। तो जो रागद्वेषसे रहित है वही पुरुष देव (प्रभु) कहा जा सकता है। छठा दोष है मोह। मोहका अर्थ है अज्ञान, बेसुधी। जैसे गृहस्थ लोग घर गृहस्थीमें स्त्रीमें मोह रखते हैं, बेसुध रहते हैं इसी तरह कुछ लोग देवताओंका ऐसा चरित्र गढ़ देते हैं कि वे भगवान अपनी पत्नीके साथ रहते हैं, मोह करते हैं ' ' वे पुरुष अज्ञान अंधेरेमें हैं, उन्होंने देवका स्वरूप ठीक समझा नहीं। देवका स्वरूप समझनेके लिए खुद अपने आपमें कुछ निर्मलता जगानी होगी, क्योंकि समझने वाला जब खुद निर्मल होगा तो उसमें भगवानके स्वरूपकी झाँकी आवेगी। तो जो पुरुष खुद ज्ञानबलके द्वारा बाह्यपदार्थोंका उपेक्षा करके अपने आपमें विश्राम लेता है उसको खुदसे ही उत्तर प्राप्त होता है अनुभवके रूपमें कि भगवान ऐसा ज्ञानमात्र और अनाकुल स्वरूप होता है।

परमात्मदेवकी चिन्तारहितता ७वाँ दोष है चिन्ता करना। चिन्ता तो चिन्तासे भी बढ़कर बतायी गई है, अर्थात् जैसे कोई पुरुष मरे, चितापर जाये तो उसके सम्बंधमें जैसे दूसरे लोग कुछ दुःखकी कल्पना कर सकते हैं वहाँ क्या दुःख है, किन्तु चिन्तामें निरन्तर कठिनसे कठिन दुःख है। भला सब जीव निराले हैं, यह आत्मा अकेला है, अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही पुण्य पाप करता है और अकेला ही फल भोगता है। इसका किसी दूसरेसे कोई सम्बंध नहीं है, लेकिन मोही जीवने किसी स्त्रीको, पुत्रको मान रखा है कि ये मेरे हैं, घरके दो चार व्यक्तियोंमें अपना उपयोग लगा देनेसे उसने अपना कितना महान् घात किया है, अपने ज्ञान गुणपर प्रहार किया है और उससे फिर नाना चिन्तायें आ जाया करती हैं। जिस पुरुषको अपने एकत्वसे प्रीति है उसपर चिन्तायें सवार नहीं होतीं। जो अपनेको अकेला ज्ञानमात्र निरखता है उसपर चिन्ताओंका क्या अवकाश? भगवान समाधिके बलसे पूर्ण विशुद्ध होते हैं और अपने ज्ञानस्वरूपके अनुभवमें निरन्तर रहते हैं इस कारण वे चिन्तासे सर्वथा रहित हैं।

परमात्मदेवमें जराकी अनुपपत्ति ८वाँ दोष है बुढ़ापा। बुढ़ापाको महारोगमें गिना गया है। जहाँ इन्द्रियाँ शिथिल हो जातीं, शरीर शिथिल हो गया, जठराग्नि भी मंद हो जाती है, अनेक रोग उखड़ पड़ते हैं, कोई उनको पूछने वाला भी नहीं होता है बेकारसा जानकर। जहाँ बाहरी भी अनेक वेदनायें हैं। ऐसी जरा जिसके पायी जाये उसे क्या देव कह सकते हैं? कुछ लोग किसी देवताका रूप वृद्धके रूपमें मानते हैं। उस तरहका चेहरा दिखाते हैं और कहते हैं कि यह अमुक देव है। तो जिसके बुढ़ापा हो वह देव नहीं हो सकता। यदि कोई बूढ़ा मुनि भी केवलज्ञान प्राप्त कर ले तो केवलज्ञान प्राप्त होनेके बाद वह बूढ़ा न रहेगा। उसका शरीर युवकके समान पूर्ण पुष्ट और कोतिमान हो जायेगा। यह केवलज्ञानका अतिशय है। किसी पुरुषके पैर आदिकमें यदि किसी प्रकारका रोग हो, और समाधिके बलसे वह परमात्मा हो जाये तो किसी भी तरहका रोग टेढ़े-मेढ़े, ये कुछ नहीं रह सकते। जो लोग अरहंत परमात्माके दर्शन करें और उन्हें वे टेढ़े-मेढ़े, रोगी, तो वहाँ उस प्रभुके प्रति भक्ति कहाँ जगेगी? उनका परमौदारिक दिव्य देह होता है, जहाँ धातु मलिनता आदिकसे रहित स्फटिक मणिकी तरह विशुद्ध शरीर हो जाता

है। एक यह अतिशय बताया गया है अरहंत प्रभुका कि उनके शरीरकी छाया नहीं पड़ती। क्यों पड़े छाया? जब उनका शरीर स्फटिक मणिकी तरह निर्मल हो गया, तो यहाँ भी देख लो कोई शुद्ध काँच हो तो धूपमें रखे जानेपर उसकी छाया जमीनपर नहीं पड़ती। हाँ अगर छाया पड़ती है तो समझ लीजिए कि अभी वह काँच पूर्ण विशुद्ध नहीं है, कहीं न कहीं उसमें मल अवश्य लगा है। फिर भगवानका परमौदारिक दिव्य देह स्फटिक मणिकी तरह पूर्ण स्वच्छ है, इसी कारण उनके देहकी छाया नहीं पड़ती। तो जिनका देह जरासे रहित है वे प्रभु सशरीर परमात्मा हैं, और सिद्ध भगवानके शरीर ही नहीं है तो जरा आदिकका कोई अवकाश ही नहीं है।

परमात्मादेवमें रोग व मरणदोषका अभाव ९वाँ दोष है रोग। शरीरमें रोग करोड़ों प्रकारके बताये गए हैं। रोम रोममें अनेक दोष पाये जाते हैं, केवलज्ञान होनेसे पहिले कोई शरीर ऐसा न मिलेगा मनुष्योंका जो समस्त रोगोंसे रहित हो, चाहे वह कितना ही पुष्ट बलवान हो। बहुतसे रोग नहीं हैं इसलिए कह देते हैं कि यह मनुष्य नीरोग है, लेकिन कोई भी औदारिक देह ऐसा नहीं है कि जिसमें कोई न कोई रोग न पाया जाये। जहाँ रोग हो वह देव नहीं कहा जा सकता। १०वाँ दोष है मृत्यु। देवका मरण नहीं होता। मरण नाम है उसका जिसके बाद जन्म लेना पड़ता है। सशरीर परमात्मा देहसे छूट जाता है तो आयुका क्षय तो होता है, उसका इस दृष्टिसे मरण नाम भी कहा है पंडितपंडितमरण। तो आयुका वियोग हुआ इस दृष्टिसे मरण नाम रख दिया, लेकिन वास्तवमें मरण उसीका ही नाम है कि जिसके बाद शरीरमें जन्म लेना पड़ता है। भगवानकी मृत्यु नहीं है और इसी कारण भगवानके जन्म भी नहीं है। सर्व कर्म जहाँ छूट गये, फिर अन्य शरीरमें जानेकी बात ही नहीं रहती। कुछ लोग मानते हैं कि भगवानका अवतार होता है। पर अवतार शब्दका अर्थ है उतारना, गिरना, हल्की स्थितिमें आना। अवतार कोई आदर्श अर्थ नहीं रखता है, लेकिन लोग अवतारको बड़ी ऊँची निगाहसे देखते हैं कि यह भगवानका अवतार है। भला भगवानको क्या कष्ट था जो कि जन्म लेने आये? जो जन्म लेने आये वह देव नहीं है। ज्ञान और आनन्द ही प्रभुका स्वरूप है। इस मर्मको जो नहीं समझते हैं वे मनगढ़त कथायें गढ़ते हैं और अंधेरेमें ही पड़े रहते हैं। ज्ञानप्रकाश उन्हें प्राप्त नहीं होता।

परमात्मदेवमें स्वेद, खेद, मद, रति, विस्मय, जन्म, निद्रा विषादका अभाव ११वाँ दोष है पसेव आना। शरीरमें जब पसीना आता है तो कितना म्लान हृदय हो जाता है। अशुचि, मलिनता, दुर्गन्ध, न सुहाये, ये सब गंदगियाँ आ जाती हैं। सशरीर परमात्माके शरीर तो होता है, पर वह दिव्य शरीर होता है वहाँ पसेवका कोई काम नहीं है। १२वाँ दोष है खेद। प्रभुके खेद नहीं होता। किसी भी समय किसी शंकामें आ जायें, वियोग हो जाये, घबड़ा जायें, यह बात प्रभुमें नहीं हो सकती। जिसकी ये घटनायें बतायी जाती हों वह प्रभु नहीं माना जा सकता। १३वाँ दोष है मद घमंड। प्रभु तो विशुद्ध ज्ञाता दृष्टा निराकुल परमआनन्दमय अवस्था वाले होते हैं। उनके अभिमान नहीं होता। घमंड तो वहाँ आये जिसमें कभी कुछ थोड़ी सी चीज पा ली हो, किन्तु जिनका विशालरूप है, विशाल सम्पन्नता है, परिपूर्णता है उनको मद कहाँसे आयेगा? कषाय ही नहीं है, उस प्रकारके कर्म ही नहीं हैं, विशुद्ध ज्ञानानुभूति प्रकट है वहाँ घमंड नहीं ठहर सकता। १४वाँ दोष है रति। रति प्रवृत्तिसे सम्बन्ध रखती है। जहाँ रतिकी जा रही हो, प्रवृत्तिकी जाती हो वहाँ देवत्व नहीं माना जाता है १५वाँ दोष है विषमय(आश्चर्य)। जहाँ सकलज्ञान उत्पन्न होता है, तीन लोकके समस्त पदार्थोंको स्पष्ट जानते हैं उनको आश्चर्य किस बातपर हो? आश्चर्य तो वहाँ होता है जो पहिले जानता नहीं है और कुछ अद्भुत बात जाननेमें आये, आकस्मिक बात जाननेमें आये। जो चीज थी नहीं और सामने उपस्थित हो वहाँ ही आश्चर्य उत्पन्न होता है, पर प्रभुके ज्ञानमें तो जो पर्याय

अनादिकालसे है, अनन्तकाल तक है, जो कुछ भी है, तीन लोक तीन कालके पदार्थ वे सब प्रतिभात हुए हैं। उन्हे आश्चर्यका अवकाश नहीं होता। १६वाँ दोष है जन्मका। भगवानको जन्म भी नहीं लेना पड़ता। १७वाँ दोष बताया गया है निद्रा याने नींदका आना। कुछ लोग कहते हैं कि भगवान सो जाते हैं। अरे जो सो जाये वह तो बेसुध हो गया। जब कमजोरी होती है, थकान होती है तभी तो सोया जाता है। सोना कोई गुणकी चीज नहीं है। भगवानमें यह निद्राका दोष नहीं पाया जाता है। १८वाँ दोष है विषाद। रंज और दुःखका अनुभव करना विषाद है। इन १८ प्रकारके दोषोंसे जो रहित हो वही भगवान कहा जा सकता है।

परमात्मदेवकी निर्दोषता व गुणसम्पन्नता जो पुरुष देव, शास्त्र, गुरुका सत्यरूपमें श्रद्धान करता है वह सम्यग्दृष्टि जीव है। देव तो होता है निर्दोष, जिसमें दोष जरा भी न हो और गुण पूरे प्रकट हो गए हों उसीका नाम देव है, उत्कृष्ट आत्मा। परमात्माका भी अर्थ यह है कि जो परम आत्मा हो सो परमात्मा। परमके मायने उत्कृष्ट। जो आत्मा उत्कृष्ट हो गया है उसका नाम परमात्मा है। परमात्मा शब्दसे ही अनेक बातें स्पष्ट हो जाती हैं। वह आत्मा उत्कृष्ट है, इसके मायने यह है कि वह कोई अनुत्कृष्ट सदोष अधूरे गुण वाला था। वही जीव अब निर्दोष और गुणसम्पन्न हो गया। इससे यह सिद्ध होता है कि जो परमात्मा हैं वे भी कभी कर्मोंसे लिप्त थे और कर्मोंको काट करके भगवान हुए हैं। परम आत्मा परमका अर्थ है जिसमें अपना लक्षण उत्कृष्ट प्रकट हो गया है। परा मा लक्ष्मी यत्र स परमः। जिसमें उत्कृष्ट लक्ष्मी प्रकट हुई है उसे परम कहते हैं। अर्थात् वह गुणसम्पन्न है, गुणोंसे पूरा वही हो सकता है जिसमें दोष न रहा हो। ऐसे परमात्मामें जो दो तीन शब्द(पर मा आत्मा) लिखे हैं, वे शब्द बहुतसी बातोंको ध्वनित करते हैं। जो निर्दोष हो, गुणसम्पन्न हो उसे परमात्मा कहते हैं। हम सदोष हैं और गुणोंमें अधूरे हैं यही हम स्वभावमें परिपूर्ण हैं और पुरुषार्थ करें तो हमारे दोष भी सब समाप्त हो सकते हैं तथा गुण पूरे प्रकट हो सकते हैं।

अन्तस्तत्त्वके समाधानसे मानवजीवनकी सफलता आज मनुष्यजीवन पाया तो इस जीवनमें एक ही उद्देश्य बनायें कि मैं अपने आपके स्वरूपका दर्शन करता रहूँ जिससे कि दोष सब खत्म हो जायें और हमारे गुण यथार्थ रूपमें प्रवृत्त हो जायें। इसमें ही शान्ति मिलेगी। यही हमारा उत्कृष्ट काम होगा। इसके अतिरिक्त अन्य काम चाहे किसी प्रकार बनें, बिगड़े, परिणामें, उसमें कुछ भी हर्ष विषाद न करें। मैं तो एक ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ, मुझे किसी परसे मतलब क्या है। आज अनेक लोग प्रीतिपूर्वक व्यवहार करते हैं, कदाचित् वे सबके सब नाराज हो जायें तो उससे मेरा कुछ बिगाड़ नहीं है। किसी भी जीवसे मेरे आत्मामें कोई गुण प्रकट नहीं होता। मैं अपने आपको अपनी दृष्टिमें लिए रहूँ तो मैं ही स्वयं समृद्धिशाली बन जाता हूँ। यों तो सारा जहान चाहे मेरी निन्दा करे, पर उससे मेरा कुछ भी बेगाड़ नहीं होता। जो भी अनिष्ट बातें हैं उन सबका भी मैं स्वागत करता हूँ, पर मेरेमें बसे हुए परमात्माके स्वरूपका दर्शन बना रहे, यही एक सच्चा पुरुषार्थ है कि जिसके बलसे हमारा कल्याण हो सकता है। तो जब कोई जीव अपने आपके स्वरूपका निश्चय करके यहाँ ही रमता है, तृप्त रहता है वह जीव कर्मोंके बन्धनसे छूटता है और परमात्मा बन जाता है।

आत्माका उत्कृष्ट पद लोग चाहते हैं कि कोई ऊँचासे ऊँचा बन जाऊँ, मगर यह तो निर्णय करें कि संसारमें ऊँची कौनसी चीज है? क्या धनिक बन जाना अथवा कुछ देशोंका प्रधान (राष्ट्रपति) बन जाना ये कोई सर्वोत्कृष्ट बातें हैं? अरे जरा भीतरमें इसका निर्णय तो करो। ये सब बाहरी बातें हैं। देव भी करकर एकेन्द्रिय बन जाता है। राजा भी मरकर कीड़ा-मकोड़ा बन जाता है। यहाँका बड़ा होना कोई बड़प्पनकी चीज नहीं है। ऊँची

चीज तो है अपने आपमें वह निर्दोषता प्रकट हो जाये कि जिसके बाद कभी निम्न दशा न हो। यह मोहजाल, यह लोगोंका परिचय, ये तो सब व्यामोहकी बातें हैं। इनमें कोई बड़प्पनकी बात नहीं है। इन बाहरी बातोंका ख्याल छोड़कर अपने आपमें बसे हुए परमात्मात्मस्वरूपको देखो, इस ही उपायसे निर्दोषता प्रकट हो सकती है। जो निर्दोष है, सर्वगुणसम्पन्न है उसे परमात्मा कहते हैं। ऐसे परमात्मासे नेह लगाना, उसके प्रति भक्ति उमड़ना यह सबसे बड़ा भारी आत्माका शृङ्गार है, शोभा है। इस हा भक्ति उपासनाके बलपर यह जीव आनन्दमग्न होता रहता है। जिसको अपने आपके अनुभवकी बात प्रकट हुई है उसको ऐसी धुन बनती है कि सर्व वैभवको त्याग दें, सर्वपदार्थोंकी उपेक्षा करके निर्ग्रन्थ दिगम्बर बनवासी हो जायें। ये सांसारिक सुख कोई सुख नहीं हैं। ये तो साक्षात् दुःखस्वरूप है। यहाँके जिन कार्योंके करनेमें भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालोंमें दुख भरा रहता है। सभी लोग जानते हैं कि इस सांसारिक वैभवके उपार्जनमें पहिले कितना कष्ट होता है, वर्तमानमें उसकी रक्षा करनेमें कष्ट होता है और बादमें उसका वियोग होनेपर कष्ट होता है। तो फिर ऐसी विभूतिमें क्या लगाव रखना?

ज्ञानीका निर्णय और साहस ज्ञानीके तो यह निर्णय रहता कि उदयानुसार जो आता है आये, जाता है जाये। हर स्थितियोंमें हम अपनी व्यवस्था बना लेंगे। मुझे ऐसी लाज नहीं है कि कोई लोग ऐसा सोचने लगे कि देखो यह अभी तक तो ऐसी ठाठसे रहते थे और अब ऐसी गिरी स्थितिमें रह रहे हैं। ज्ञानी पुरुषके ऐसा साहस रहता है। ज्ञानी पुरुष किसी भी स्थितिमें हर्ष विषाद नहीं मानता। वह तो आत्मदर्शन, आत्मआराधनाके कामको सबसे अच्छा समझता है। यहाँकी चीजें तो सब उदयाधीन हैं देखिये बड़े बड़े साधु संतोपर बड़े बड़े उपसर्ग आये, पापोदय वहाँ भी नहीं छूटता है। सिंह भख रहा है, शेरिपर अंगीठी जलाई जा रही है, स्यालिनी भख रही है आदि ऐसे कठिन उपसर्ग सहन करनेपर भी वे साधु आत्मआराधनामें ही रत रहते हैं। वे उपसर्ग उनका कुछ भी बिगाड़ कर सकनेमें समर्थ नहीं होते। वे उन उपसर्गोंको समतासे सहन करके कर्मोंकी निर्जरा करके केवलज्ञानी हुए। तो यहाँ बाहरी प्रसंग कैसे ही आये उनकी जरा भी चिंता मत रखो, चित्तमें ऐसा निर्णय रखो कि जैसी भी स्थिति सामने आ जायेगी उसीमें अपनी व्यवस्था बना लेंगे। यहाँकी स्थितियोंमें रंच भी दुःख मानकर अपने अन्दरमें ऐसा अन्तःपुरुषार्थ करना है कि जिससे संसारका आवागमन छूट जाये।

धर्मपालनकी दिशा जो पुरुष परिपूर्ण गुणसम्पन्न आत्माको ही भगवान (परमात्मा) मानता है वह सम्यग्दृष्टि है। लोग तो धर्मके सम्बन्धमें नाना कल्पनायें बनाते हैं। धर्म करना तो सभी चाहते हैं, मगर कितनी विडम्बना बन गई है कि कोई लोग तो पेड़, नदी, पर्वत आदिक देवता मानकर पूज बैठते हैं। बहुतसे लोग तो अनेक पशुओंको भी पूजते हैं। यों कैसी कैसी विडम्बनायें धर्मके नामपर बन गयीं। और, ये हमारे देवता मांस खायेगे, ऐसी श्रद्धा रखकर जीवोंकी हत्या करते हैं, और खुद मांसको देव देवी आदिका प्रसाद समझकर भक्षण करते हैं। तो यह धर्म कहाँ हुआ? यह तो अधर्म हुआ। लोग धर्मके नामपर रागद्वेष, विषयकषाय आदिकके अनेक कार्य करते हैं। धर्मके सम्बन्धमें लोगोंकी यह कितनी उल्टी श्रद्धा है। यदि धर्मका संक्षेपमें लक्षण जानना है तो यों जान लीजिए कि मेरा जो सहजस्वरूप है ज्ञानज्योति प्रतिभासमात्र, उस प्रतिभास्वरूप अपने आपमें उपयोग रखना बस यही है धर्मपालन। अब जो इस आत्माके धर्ममें आये नहीं हैं, या जिनको इसका अभ्यास नहीं है, उनका काम कैसे बने? धर्म करनेके उपाय लोकव्यवहारमें नाना प्रकारके बताये गए हैं पूजा करना, स्वाध्याय करना, सत्संगमें रहना, तप करना, त्याग करना आदिक। कोई पुरुष इन अनेक बातोंको तो करे, रहे इन्हीं विकल्पोंमें, पर यह पता न हो कि मुझे ये काम किसलिए करना है, इन कार्योंके किये जानेका उद्देश्य क्या है, तो समझो कि उसने धर्म

पालन नहीं किया। ये सब बातें इसीलिए हैं कि अपने उस निराकुल निर्विकल्प प्रतिभास स्वरूपको जानूँ और वहाँ ही ज्ञान लगाकर, दृष्टि लगाकर तृप्त रहूँ, निराकुल रहूँ, इतनी बात पानेके लिए हम पूजन, सत्संग, स्वाध्याय आदि करते हैं, इस प्रयोजनको हमें कभी न भूलना चाहिए।

धर्मपालनके प्रयोजनकी पूरकतामें ही धर्मपालनकी वास्तविकता आत्मदर्शनके प्रयोजनको (लक्ष्यको) दृष्टिमें रखते हुए व्यावहारिक धर्म कार्योंमें लगे, तब तो ठीक है अन्यथा वह एक विडम्बना मात्र रहेगी। जैसे एक कथानकमें बताते हैं कि किसी सेठने प्रीतिभोज किया तो उसने यह सोचकर कि लोग हमारी ही पातलमें खा जाते हैं और उसीमें छेद कर जाते हैं, दौत खोदनेके लिए सींक निकालकर। सो खानेके साथ-साथ एक एक सींक भी चार-चार अंगुलकी परोसवा दिया। अब सेठ तो गुजर गया। जब सेठके लड़कोंने पंगत किया तो उन्होंने सोचा कि हम तो पिताजीसे चौगुनी बढ़िया पंगत करेंगे, सो पिताने तो बनवायी थीं दो प्रकारकी मिठाइयाँ, लड़कोंने ८ प्रकारकी मिठाइयाँ बनवायीं, पिताने ४ अंगुलकी सींक परोसी थी तो लड़कीने एक एक बिलस्तकी लकड़ियाँ परोसीं। जब उन लड़कोंके लड़कोने पंगतकी तो उन्होंने सोचा कि हम तो अपने पितासे भी चौगुनी अच्छी पंगत करेंगे। सो अनेक प्रकारकी मिठाइयाँ बनवायीं और साथ ही डेढ़-डेढ़ हाथका एक एक डंडा भी परोसवाया। भला देखिये उस सींकको साथमें परोसनेका प्रयोजन न जानकर डेढ़-डेढ़ हाथका डंडा परोसनेकी नौबत आ गई। तो ऐसे ही समझ लीजिए कि बिना प्रयोजनको ध्यानमें रखे रूढ़िवश जो धार्मिक क्रियाओंको करके जो फायदा लूटा जाना था वह नहीं लूटा जा सकता। तो जितने क्षण हम आपके उस निर्दोष परिपूर्ण गुणसम्पन्न आत्मस्वभावकी ओर दृष्टि आती है उतने समय तो समझिये कर्म कट रहे हैं, धर्मपालन हो रहा है और इसे छोड़कर जो बाहरी बातोंमें जलूस, शोभ, सजावट आदिकमें लगे रहते हैं, लक्ष्यका पता नहीं है तो ऐसी स्थितिमें जैसे और और काम किये वैसे ही यह काम हो गया। तो यह लक्ष्य दृढ़ रहना चाहिए कि मुझे इस जीवनमें करने लायक काम केवल एक ही है दूसरा कुछ नहीं। वह काम है अपने आत्माके ज्ञानस्वरूपको जानूँ, उसे ही दृष्टिमें लिए रहूँ और उसमें ही तृप्त रहा करूँ, इसके अतिरिक्त अन्य जो भी काम पड़ते हैं वे करने तो पड़ते हैं, पर उनका करना योग्य नहीं है। करने योग्य काम तो एक यह आत्म-आराधना ही है।

आत्मधर्म जो मेरे आत्माका स्वभाव है वही मेरा धर्म है। आत्माका स्वभाव है केवलज्ञाता दृष्टा रहना, रागद्वेषसे रहित रहना। ऐसा बन सके तो समझिये कि धर्म कर रहे। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, आदिक १० प्रकारके जो धर्म बताये गए हैं वे धर्म हैं। यदि हमारी क्षमा आदिकरूप परिणति बनती है तो हम धर्म पालन कर रहे हैं। धर्म है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र। आत्माके ज्ञानानन्दस्वरूपका विश्वास होना, उसीको उपयोगमें लेना और उसही रूप प्रवर्तन करना। यदि यह बात मुझमें बन रही है तो धर्मपालन हो रहा है। धर्म है दया। दूसरे जीवोंको दुःखी देखकर दयाका भाव आता है, जब कि दूसरेकी तरह अपनेको समझा जा रहा हो और अपने समान दूसरेको भी समझा जा रहा हो। जैसे जाड़ेमें ठिठुरने वाले किसी पुरुषकी काँपती हुई आवाजको आप सुनते हैं तो आपको उस समय जाड़ेके दुःखका अनुभव होता है, आपके अन्दर जाड़ेका दुःख उत्पन्न होता है तो आपको दया आती है कि इसे कोई कपड़ा दे देना चाहिए, ऐसे ही आप किसी भूखे पुरुषको देखते हैं तो उस समय आपको भूखकी वेदनाका अनुभव होता है तभी उसपर दया उत्पन्न होती है और आप उसे रोटी देते हैं। तो दूसरे जीवोंपर दया करनेमें भी खुदका सम्बन्ध बना। और अपने आपमें दया उत्पन्न हुई कि हमको पाप न करना चाहिए, नहीं तो इसमें मेरे परमात्मस्वरूपका घात है। मुझे मिथ्यातत्वमें, मिथ्याज्ञानमें, मिथ्या आचरणमें नहीं रहना चाहिए, क्योंकि उसमें मेरे ही ब्रह्मस्वरूपका

घात है। तो यों जो अपनी दया कर रहा है, परकी दया कर रहा है वह धर्मपालन कर रहा है। धर्म वही है जहाँ दया बसी हो, और अपने आपके स्वरूपका श्रद्धान, ज्ञान, आचरण पड़ा हो, इसके अलावा जो अन्य प्रकारकी प्रवृत्तियाँ हैं वे अधर्म हैं। बलि करना, सरागी देवोंकी उपासना करना आदि ये तो अधर्मकी बातें हैं।

निर्ग्रन्थ गुरुमें ज्ञानीकी आस्था—सम्यग्दृष्टि जीव वह है जो निर्दोष और परिपूर्ण गुणसम्पन्न आत्माको देव मानता है और दयामयी धर्मको धर्म समझता है और निर्ग्रन्थजनोंको अपना गुरु मानता है। ग्रन्थ (परिग्रह) २४ प्रकारके होते हैं, १४ अन्तरङ्ग परिग्रह और १० बाह्य परिग्रह। इस जीवकी बरबादी परिग्रहके संगमें है। यदि ज्ञानबलसे परिग्रहका भीतरमें लगाव त्याग दे तो उसे ज्ञानप्रकाश मिलेगा और अपना कल्याणमार्ग मिलेगा। मिथ्यात्वभाव रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, हँसना, रोना, शोक करना अथवा वियोग करना आदि ये सब अन्तर्ग्रह परिग्रह हैं। इन परिग्रहमें जो लगा हुआ है जीव उसको प्रभुरूप नहीं सुहाता। सिद्ध परमेष्ठी अथवा गुरु महाराज इन भीतरी परिग्रहोंके लगावसे पृथक हैं और बाह्यमें धन, धान्य, क्षेत्र, वस्त्रादिक किसी भी प्रकारका परिग्रह नहीं है, केवल एक शरीरमात्र उनका परिग्रह है, सो उसे भी वे अपनाते नहीं हैं, अतएव वह भी परिग्रह नहीं है। ऐसे परिग्रहरहित निर्ग्रन्थ गुरु कहलाते हैं, ऐसा जो श्रद्धान करते हैं वे सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। देव, शास्त्र, गुरुकी यथार्थ श्रद्धा जिसे नहीं है वह धर्ममार्गमें बढ़ नहीं सकता है।

आत्मदर्शीके आकुलताका अभाव सबसे पहिले विश्वास निर्मल बनाना है। किसीके बहकावेमें न आये कि फलाने देवकी उपासना करनेसे धन मिलेगा, सुख साधन मिलेंगे। अरे ज्ञानी पुरुष तो संसारकी सुख सुविधाओंको चाहता ही नहीं है। सांसारिक सुख मिलें चाहे न मिलें, हमारा गुजारा हर स्थितियोंमें चल जायेगा। जब कभी शरीरमें फोड़ा फुँसी होती है और उसे कोई फोड़ता है, ऑपरेशन करता है तो भीतरमें पहिले अपना ऐसा कड़ा दिल बनाना पड़ता है कि फोड़ने दो इन्हें, यह तो मेरे भलेके लिए है, ऐसा ही सारा अन्तर हो जाता है। कोई पुरुष इस बातपर दृढ़ हो जाये कि यहाँपर जो कुछ होता हो होने दो, मैं तो शरीरसे निराला ज्ञानस्वरूप यह आत्मा यह सामने हूँ, यही मैं हूँ। इस अमूर्त आत्मामें कोई प्रवेश नहीं कर सकता। यों देहसे निराले ज्ञानमात्र आत्माकी ओर दृष्टि रखे कोई तो उसे बाहरी बातोंसे कोई आपत्ति आयेगी क्या? जब कोई पुरुष अपने ज्ञानभावमें दृढ़ नहीं रहता है तो वह स्वयं अपनी कल्पनासे विपदायें मान लेता है। हम अपनेमें व्यर्थकी कल्पनायें न बनायें और अजर, अमर, सरल जो मेरा ज्ञानस्वरूप है बस उसकी ही प्रीति रखें तो फिर यहां कोई दुःख नहीं है। ज्ञानी जीव अपने आत्मस्वरूपमें और देव, शास्त्र, गुरुके निर्णयमें इतना निःशंक है कि उसको कोई कितना ही बहकाये, मगर वह श्रद्धासे विचलित नहीं हो सकता। रेवती रानीको अभव्यसेनने कितना चमत्कार दिखाया, ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदिक बन गया तिसपर भी उनकी उपासना उसने नहीं किया। यहाँ तक कि तीर्थकरका झूठा समवशरण तक दिखाया फिर भी उस रेवतीरानीने समझ लिया कि २४ तीर्थकर तो हो चुके यह २५वाँ तीर्थकर कहाँसे आ गया? यह तो मायाजाल प्रतीत हो रहा है, सो उसने उसकी भी पूजा उपासना नहीं किया। तो यों श्रद्धान रहता है ज्ञानी पुरुषका कि न उसके अपने आत्मस्वरूपमें गलती है और न देव, शास्त्र, गुरुके स्वरूपके निर्णयमें गलती है।

दोस-सहियं पि देवं जीव-हिंसाइ-संजुदं धम्मं।

गंथासत्तं च गुरुं जो मण्णदि सो हु कुद्दिठी ॥ ३१८ ॥

कुदृष्टिके सदोष देवकी आराधना—जो जीव दोषसहित आत्माको तो देव मानता है, जीव हिंसा आदिकसे सहितको धर्म मानता है और परिग्रहोंमें आसक्तको गुरु मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। जिसकी दृष्टि खोटी हो उसे

कुदृष्टि कहते हैं। वस्तुका जिस प्रकार स्वरूप नहीं है या जो पर्याय जिस रूप नहीं है उसको उस रूपसे समझना यह ही उसकी विपरीत दृष्टि है। जिन पुरुषोंमें क्षुधा तृषा रागद्वेष भय मोहाहिक १८ दोष पाये जाते हैं उनको देव मानना अथवा कुछ दोष नहीं है, ऐसा स्वीकार करके भी कुछ दोषोंको मानना ऐसे दोषसे संयुक्त पुरुषको देव नहीं कह सकते। जो दोषसहित पुरुषको देव मानते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। जैसे अनेक लोगोंकी कल्पनायें हैं कि भगवानके साथ उनकी स्त्री व उनके बच्चे आदि भी होते हैं, वे भगवान घरमें भी रहते हैं, लोगोंसे बातें भी किया करते हैं और जहां चाहे चोरीसे दूध-दही भी खा आये, किसी भी प्रकार अपनेको कौतूहल बताये, तो यह उनकी विपरीत दृष्टि है। इसी प्रकार जीव हिंसा आदिक प्रवृत्तियोंसे सहित प्रवृत्तियोंको धर्म मानें सो भी मिथ्यात्व है। अनेक पुरुष अनेक प्रकारके यज्ञोंकी कल्पनायें करते हैं। बकरा, घोड़ा, गाय, हाथी आदिककी बलि करके अनेक प्रकारके यज्ञ मानते हैं। उनमें उन जीवोंकी बलि किया करते हैं। और मानते हैं कि हमने धर्म किया। कितना महान् अज्ञान अंधेरा है कि धर्म तो अपने भगवान आत्मामें विराजमान शुद्ध तत्त्व है जिसकी दृष्टि करना धर्मपालन है, उसे तो जानते नहीं हैं और अपने ही जीवोंके समान चैतन्यस्वरूप वाले इन पशु-पक्षी आदिक पर्यायोंमें आये हुए को होम देते हैं, बलि कर देते हैं। यह महान मोहका विलास है। कुछ लोग देवी देवमें, पितर आदिककी श्रद्धा किया करते हैं, श्राद्ध मानते हैं। हम अमुक देव देवीको भेंट चढ़ायें या अमुक नदीको भेंट दें तो वह चीज हमारे पिताके पास पहुंच जायेगी। या जो चीज हम इन पण्डोंको दे दें वह चीज हमारे पिताके पास पहुंच जायेगी, ऐसी मिथ्या कल्पना करते हैं और ऐसी प्रवृत्ति करते हैं वह भी मिथ्यात्व है। भला जब वह बाप जीवित था तब तो सुखसे पानी तक भी नहीं दे सके और मरनेके बाद उनके पास गाय, पलंग, वस्त्र आदि पहुंचा रहे हैं तो यह कितनी मूढ़ता है? तो जो जीव हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील आदिकसे भरी हुई, परिग्रहोंकी आसक्ति वाली प्रवृत्तियोंको धर्म मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि जीव हैं।

कुदेवत्वका आशय व उसकी आराधनाका दुष्परिणाम लोग अनेक घटनाओंमें यह कल्पना भी कर डालते हैं कि देखो भगवान होकर भी यह झूठ बोलना पड़ा, तो ऐसा झूठ बोलना भी धर्म है। भगवान होकर भी उन्होंने चोरीकी तो इस तरहके चोरी करनेमें क्या पाप है? अथवा भगवान होकर भी अनेक स्त्रियोंमें, गोपियोंमें, परस्त्रियोंमें रमे तो परस्त्रीरमण क्या पाप है? तो कुदेवकी घटनाकी बात कह कह कर अपने आपमें पापकी वासना बनाते हैं वह सब अधर्म है। यद्यपि वस्तु दृष्टिसे वह कुदेव नहीं है। जिसे लोगोंने कुदेव रूपसे मान डाला है वह कुदेव नहीं है। वह तो जो है सो है। जैसी उनकी स्थिति थी, लेकिन यहांके लोग उनको देव मानते हैं बस यह कुदेवपना सिद्ध होता है। जैसे जो भी अपने जमानेमें ऐसे पुरुष हुए हैं, जिन्होंने शंख, चक्र, गदा आदिक शस्त्रोंको लिया था, जिन्होंने मानी हुई राधा गोपी आदिकको अङ्गीकार किया था, तो वे तो जो थे सो ही हैं। वे अपने समयके एक पुण्य वाले पुरुष थे। उन्होंने क्या किया, यह बात भी आज लोग स्पष्ट नहीं समझ पाते हैं, पर उनके सम्बन्धमें उन्हें रागी द्वेषी बताकर फिर उन्हें देव माने तो यह कुदेवपनेकी बात आती है। तो इससे यह सिद्ध होता है कि कुदेवपनेकी सिद्धि भगवानके अभिप्रायके कारण है। वह ता जो है सो हैं देव है तो देव है, देव नहीं है तो नहीं है। कुदेवपनेकी क्या बात? यदि कोई भगवान हो गया तो भगवान है और न हा सका केवलज्ञानी तो संसारी है, अब कुदेवपनेकी बात उनमें ही है, लेकिन जो जीव रागी द्वेषीको भी देव मानते हो तब कहना पड़ता है कि वह तो कुदेव है। जैसे यहां भी महावीर भगवान वीतराग सर्वज्ञ हैं, जो हैं सो हैं, लेकिन कोई भक्त पुरुष ऐसी भक्ति करे और ऐसा स्वरूप जाने कि यह महावीर किसीको पुत्र देते हैं, धन देते हैं, मुकदमा जिताते हैं तो अब उस

भक्तकी दृष्टिने उन्हें कुदेव बना डाला। पर क्या वे कुदेव हैं? या तो कोई देव है या देव नहीं है। कुपनेकी बात वस्तुमें नहीं डटी है या वह पुरुष जो रागी द्वेषी है और अपनेको यह सिद्ध करे कि देव हो या दुनियामें यह बात फैले कि मैं देव हूँ तब भी उन्हें कह सकते कि वे कुदेव हैं। कुदेवपनेकी बात तो बना करके हुआ करती है, वस्तुमें नहीं है।

कुगुरुकी आराधनाका मिथ्यात्व—जो जीव रागी द्वेषी पुरुषको कुदेव मानते, जीव हिंसा आदिक प्रवृत्तियोंसे सहित आचारको धर्म मानते वे पुरुष मिथ्यादृष्टि हैं, इसी प्रकार जो पुरुष परिग्रहमें तो आसक्त हैं, खेत रखे हैं, मकान बनाये हैं, बैल, घोड़ा, हाथी आदिक रखे हैं, गहियाँ हैं, जायेदाद हैं, स्त्री, पुत्रादिक हैं, जैसा कि अनेक लोग अभी भी यह ख्याल करते हैं कि बहुतसे ऋषि जंगलोंमें रहते थे, उनके पत्नी होती थी, बच्चे बच्चियाँ होती थीं फिर भी ऋषि कहलाते थे। तो ऐसे ये सारे ख्याल मिथ्या हैं, जो परिग्रहमें आसक्त पुरुषको गुरु मानते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं। देव वही हो सकता है जो निर्दोष हो, धर्म वही हो सकता है जिसमें स्वपर दया बसी हो, गुरु वही हो सकता है जो परिग्रहसे रहित विशुद्ध हो, इसके अतिरिक्त अन्यको देव, धर्म, गुरु मानें तो वह मिथ्यादृष्टि है।

णय को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।

उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥ ३१९ ॥

अन्यके द्वारा अन्य जीवका उपकार लक्ष्मी वितरण आदि किये जानेकी अशक्यता कोई पुरुष ऐसा मानते हैं कि देव लक्ष्मीको देते हैं और लक्ष्मीपति, याने लक्ष्मी नामकी कोई स्त्री है, उनके वे पति हैं। ये लक्ष्मीपति देव हैं, ऐसी मुद्रा बनाकर उनकी भक्ति करते हैं कि ये उपकार करते हैं, तो ऐसा ख्याल भी मिथ्या है। कोई भी देव अन्य कोई भी लक्ष्मीको नहीं देता है। कोई भी पुरुष जीवका उपकार नहीं करता है। उपकार और अपकार तो शुभ अशुभ कर्मके उदयसे हुआ करते हैं। अनेक प्रकारके लोगोंने नाम रख रखे हैं 'देवके' हरि, हिरण्यगर्भ, गजानन, मूषकवाहन, अथवा बहुतसे आजके परिकल्पित नाम व्यंतर, काली, चण्डी, क्षेत्रपाल, आदिक। ज्योतिषी देवोंके नामपर लोग देवताकी कल्पना करते हैं, सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदिक ये कोई भी स्वर्ण, रत्न, धन धान्य आदि लक्ष्मीको नहीं देते हैं, यदि कोई देवलक्ष्मीको देने लगे तो फिर लोग व्यपार क्यों करें? सभी लोग एक ही काममें लग जायें, बैठे रहें, आराधना करें, देव उन्हें लक्ष्मी दे जायेंपर ऐसा हो नहीं सकता है। और कदाचित्त ऐसा हो भी जाये तो यों समझना चाहिए कि कोई व्यंतर आदिक सहाय बन गया उस लक्ष्मी प्राप्तिमें तो जैसे ये मनुष्यजन लक्ष्मी प्राप्तिमें निमित्त हो जाते हैं वैसे ही वे भी हो गए, पर कब हुए? जब स्वकीय पुण्यका उदय हो। तो अपने ही शुभ कर्मोंका उदय उसमें निमित्त हुआ, अन्य कोई निमित्त नहीं हुआ।

वैभवलाभमें पुण्यकर्मका निमित्तत्व—एक बार किसी राजाने अपने मंत्रीसे एक बहुत बढ़िया घोड़ा लानेको कहा। मंत्रीको एक नगरके किसी सेठका घोड़ा बहुत अच्छा दीखा। मंत्रीने सेठसे राजाके लिए घोड़ेका माँग की, तो सेठ बड़ा खुश हुआ कि चलो अच्छी बात है जो हमारी कोई चीज राजाके काम तो आयी। सो वह स्वयं उस घोड़ेको लेकर मंत्रीके साथ गया। राजाको सेठने घोड़ा भेंट किया। राजा सेठपर बहुत प्रसन्न हुआ और कहा ऐ सेठजी तुमसे हमें बड़ा स्नेह है। जब कभी तुम्हारे दिनोंका फेर हो तो हमारी याद अवश्य करना। समयकी बात कुछ ही वर्षोंमें वह सेठ दरिद्र हो गया, उसी राजाके पास जाकर निवेदन किया, अपना हाल कह सुनाया, तो राजाने उस सेठको एक मकान दिलवा दिया और खर्चके लिए कुछ बकरियाँ दे दीं। और कह दिया अपना समाचार प्रत्येक दो तीन दिन बादमें देते रहना। सो सेठ राजाके पास प्रत्येक दो तीन बाद जाता और यह

रिपोर्ट देता कि आज तो इतनी बकरियाँ कम हो गईं अथवा आज इतनी बकरियाँ बढ़ गईं। थोड़े दिन बादमें जब बकरियोंकी संख्या बढ़ने लगी तो राजाने कहा ऐ सेठ अब तू जितना चाहे रुपया हमसे लेकर कोई व्यापार चालू कर दें क्यों? इसलिए कि अब तेरा पुण्यका उदय चल रहा है। अब जिस व्यापारको तू करेगा बस फायदा ही फायदा होगा। तो सेठ बोला जब हमारे पुण्यका उदय आ गया तब तो हमें आपसे कुछ भी नहीं चाहिए, हम स्वयं ही कुछ थोड़ा बहुत उद्यम करके आगे बढ़ जायेंगे। तो जब शुभ कर्मोंका उदय होता है तो साधारण बातें भी निमित्त हो जाती हैं ओर जब पापका उदय होता है तो कितन ही पुण्य समागम प्राप्त हो सब विघट जाते हैं।

जीवके अपकारमें पापकर्मका निमित्तत्व देखिये अकृतपुण्य बालकको राजाने निकाल दिया, और उस पुत्रके स्नेहसे उसकी माता भी उसके साथ गई और साथमें बहुतसी मोहरें ले गई। अनाजकी गाड़ियां भी भरवा ले गई। लेकिन पापोदयके कारण वे मोहरें रास्तेमें आग बन गई और गाड़ियोंका अनाज छेदोंसे निकल-निकलकर रास्तेमें बिखरता गया। कुछ न रहा। तो जिसका उदय अनूकूल नहीं है उसकी कोई कितनी ही परवाह करे, मगर कुछ भी कार्यकारी न होगी।

लोग धनसंचय इस कारण कर रहे हैं कि हमारे ये पुत्र पुत्री उत्तरदायी रहेंगे, अधिकारी रहेंगे। तो उनका ख्याल गलत है कि हमारे कमानेसे धन बढ़ेगा और उस धनके ब्याजसे ही या किरायेसे ही अपना गुजारा कर लेंगे, अरे पता नहीं, पापका उदय आये कि वह मूल धन कहाँसे निकल जाये? अथवा वह सब जायेदाद न जाने कहाँसे खतम हो जाये? वर्तमानमें अपनी सम्हाल नहीं कर पा रहे, परदृष्टिमें बढ़ रहे तो वर्तमानमें जो अपना घात कर रहे हैं उनकी प्रवृत्ति दूसरोंको सुखदायी क्या हो सकेगी? जो लोग यह बुद्धि करते हैं कि कोई देव देवी लक्ष्मी आदिकका वितरण कर देगा वह पुरुष मिथ्यादृष्टि है। कोई भी देव लक्ष्मी आदिकका वितरण नहीं करता, यह तो शुभ अशुभ कर्मके उदयसे प्राप्त होता है।

उपकार अपकारमें कर्मका मात्र निमित्तत्व अब शुभ अशुभ कर्मोंकी बात सुनो ये कर्म भी कोई अलगसे स्वतंत्र प्रभु नहीं हैं, किन्तु खुद ही ने जो कुछ अपने भावसे कमाया है बस उस ही भावके कारण जो कर्म बँध जाते हैं, उन्हें ही पुण्य और पापकर्म कहते हैं। तो अपने द्वारा पूर्वमें उपार्जित जो शुभ अथवा अशुभ भाव हैं उनके होनेके कारण जो पुण्य कर्म और पापकर्मका बंध हुआ उसके उदयमें इस जीवको स्वयं ऐसे समागम प्राप्त होते हैं कि जिससे जीव सुखी अथवा दुःखी होता है। तो यों सीधा कह लीजिए कि शुभ-अशुभ कर्म जीवको सुख-दुःख करते हैं, किन्तु अन्य कोई देवी देवता इस जीवका सुख दुःख लक्ष्मी आदिकको नहीं करते। तब उन कुदेवों और रागी देवोंकी ओर दृष्टि क्यों देना? भक्ति उपासना क्यों करना? अब कोई यह भी शंका कर सकता है कि फिर वीतराग सर्वज्ञदेवकी भी उपासना क्यों करना? वे भी तो नहीं दे सकते? तो उसका उत्तर यह है कि जो ज्ञानी भक्त हैं वे वीतराग सर्वज्ञदेवकी भक्ति उनसे कुछ चाहनेके लिए नहीं करते, किन्तु अपने स्वरूपकी आराधना करके लिए वीतराग सर्वज्ञदेवके गुणोंमें दृष्टि करते हैं। हमारा स्वरूप राग द्वेषरहित ज्ञाताद्रष्टा रहनेका है और यह बात प्रकट रूपसे वीतराग सर्वज्ञदेवमें हो गई है तो उन गुणोंका चिंतन हम अपना मोक्षमार्ग बनानेके लिए करते हैं। तो आत्मलाभके लिए देव, शास्त्र, गुरुकी आराधना है, किन्तु सांसारिक लाभकी सिद्धि उनकी आराधनासे न होगी। और होती है तब तो इस प्रकार होती है कि देव, शास्त्र, गुरुकी आराधनाके भावमें जो कर्म बँधते हैं वे प्रायः पुण्य रूप बंधते हैं और जब उस पुण्यके उदयमें सुख आदिककी प्राप्ति होती है, सो अर्थ यह हुआ कि अपने ही भावोंके द्वारा अपना भविष्य बनाया जाता है।

**भक्तीए पुज्जमाणो वितर-देवो वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मे कीरदि एवं चिंतेइ सहिदुी ॥ ३२० ॥**

भक्तिसे पूजे गये भी देवी-देवों द्वारा उपकारका अभाव अब यहाँ सम्यग्दृष्टि पुरुषका चिंतन बता रहे हैं कि ज्ञानी पुरुष इस प्रकारका चिंतन करता है कि देखिये यदि भक्तिसे पूजा गया कोई व्यन्तर देव लक्ष्मीको दे देता है ऐसा स्वीकार किया जाये तब फिर लोग धर्मको क्यों करें? एक ही काम करें और धर्मकी ही बात क्या? व्यापार आदिकको भी क्यों करें? वे तो एक उस देवकी आराधनामें ही लग जायें। विनयसे पूजे गए ये व्यन्तर आदिक देव यदि लक्ष्मीको दे दें तब फिर धर्म करनेकी प्रवृत्ति नहीं रहनी चाहिए। लोग धनके आकांक्षी हैं, तो ठीक है, चाहते हैं कि किसी तरह धनकी प्राप्त हो और इस धनके लोभमें न्याय अन्य कुछ नहीं गिनते। किसी देवतासे धन माँगा तो इसका अर्थ हो गया कि उस अन्याय करनेमें भी देव मदद करे। लोग देवताकी पूजा करते हैं उनकी बोल कबूल किया करते हैं तो उनके धर्मका अंग यह ही मात्र रहा कि किसी न किसी देवताको पूजना। तो यों समझिये कि जैसे उन देवी-देवताओंकी पूजा बहानेके रूपसे कुछ लालच दिया जा रहा और उनका अपना काम बनाया जा रहा, लेकिन ऐसा नहीं होता। ज्ञानी पुरुष जानता है कि कोई देवता न कुछ दे सकता और न कुछ ले सकता। वह तो धन सम्पदा आदिकको क्षणभंगुर जानता और पुण्य पापके अनुकूल समागम प्राप्त होते हैं ऐसा निर्णय किए रहता है। यह लक्ष्मी चंचल है, आज है कल नहीं है, आज जीवित है, कल मरण हो गया तो लक्ष्मी यहीं पड़ी रहती है अथवा जीवित अवस्थामें ही सब लक्ष्मी एकदम नष्ट हो सकती है, तो लक्ष्मीके लालचमें ज्ञानी पुरुष नहीं आते। उसे क्षणभंगुर समझ रहे हैं और थोड़े बहुत धनकी आवश्यकता होती है सो साधारण गृहस्थीके नातेसे उद्यम करते रहते हैं।

ज्ञानियों द्वारा आत्महितके उद्देश्यसे वीतराग सर्वज्ञदेवका आराधन ज्ञानी जन सांसारिक देवी देवताओंकी मान्यतामें नहीं आते, वे तो आत्महितकी भावनासे वीतराग सर्वज्ञदेवका आश्रय लेते हैं। मेरा कल्याण हो, मेरी बरबादी इन विषयकषायोंके अनुसार है। हे प्रभो! मिथ्यातत्व और विषयकषायकी वासना मेरी दूर हो, इसमें ही मेरा कल्याण है। तो जिसने यह वासना दूर करली है और अपने शुद्ध आनन्दमें मग्न रहा करता है, ऐसे वीतराग सर्वज्ञदेवकी भक्तिमें यह ज्ञानी पुरुष रहता है। उन्हें वह अपना आदर्श मानता है। जो बात मुझे चाहिए वह बात जिसने प्राप्त करली है वह उनको आदर्श समझ करके उनकी उपासनामें रहता है, उनसे मोक्ष भी नहीं चाहता यह ज्ञानी पुरुष कि वे मुझे मोक्ष दे दें। उसकी तो आदर्शरूपमें पूजा हो रही है। जब ज्ञानी पुरुष तत्त्वचिन्तन करता है, आत्मानुभूति करता है और अपने आपमें अपने आपको निरखकर तृप्त बना रहता है। तो भगवान अरहंत सिद्ध वीतराग सर्वज्ञदेवके गुणोंकी दृष्टि करना वही वास्तविक पूजा है। किसी कविने यह कहा है कि देखिये चन्द्रबल तभी तक है, तारोंका और भूमिका बल है, और तभी तक समस्त इष्ट कार्य सिद्ध होते हैं, तभी तक मंत्र तंत्रकी महिमा है, तभी तक पौरुष काम करता है जब तक पुण्य पाप फलको भली भाँति समझता है, वह इसके लिए देवी-देवताओंकी पूजा नहीं करता।

**जं जिस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अहव मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तत्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि वारेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥**

होनीकी अविनार्यताका विचार सम्यग्दृष्टि जीव इस प्रकारका विचार रखता है कि जो बात जिस जीवके जिस देशमें जिस प्रकारसे जिस समयमें जो होनी है, जिनेन्द्र भगवान द्वारा ज्ञात है, वह चाहे जन्म-मरण,

सुख-दुःख आदिक कोई भी परिणतिकी बात हो, जो होना है वह जिनेन्द्र द्वारा ज्ञात है और वह जीवके उस देशमें उस प्रकारसे उस कालमें होगा, उसका निवारण करनेके लिए इन्द्र अथवा जिनेन्द्र भी समर्थ नहीं हैं। इस विषयको एक मोटे रूपसे यों भी सोचें कि हमें यह नहीं मालूम कि कल ८ बजे क्या होगा, मगर यह तो निश्चित है कि कुछ तो होगा ही। जितने भी पदार्थ हैं उन सबका प्रति समय परिणमन होता है। अब हम नहीं जान पा रहे कि कल ८ बजे क्या होगा, किन्तु जो होगा वह होगा ही। अब इस सम्बंधमें यह आशंका लोग करने लगते हैं कि तब फिर कुछ कारण मिलानेकी आवश्यकता क्या है? जो होगा सो होगा, लेकिन यह जानना चाहिए कि जो होनेकी बात है वह जिस विधानसे होनेकी है उस ही विधानसे होगी। वहाँ कारण कलाप ऐसा ही जुटेगा और उन ही कारणोंके बीच वह होनी बनेगी। कोई होनी जो कभी होती है फिर मिट जाती है, ऐसी होनी कारणके बिना कभी नहीं होती। जो बात बिना कारणके होगी वह सदा रहेगी। जो बात सदा नहीं रहती, समझना चाहिए कि उस बातमें कोई कारण था। कारणपूर्वक होने वाली बात सदा नहीं रहा करती है, और जो बिना कारणके होती है वह सदा रहा करती है। जैसे बिना कारणके वस्तुका स्वरूप बना है उसका ज्ञानस्वभाव है, यह बिना कारणके है, तो यह ज्ञानस्वभाव सदा रहेगा, पर हमने यह पुस्तक जाना, अमुक पदार्थको जाना ऐसा जो हमारा अलग-अलग जानना बना रहा है इसमें कारण है हमारा ज्ञानावरणका क्षयोपशम, इन्द्रियाँ हमारी पुष्ट हों, होसहवास हैं, अनेक कारण हैं इस कारण यह जानना मिटता रहता है। कोई चिंता हो, दुःख हो, सुख हो, मौज हो, ये सब बातें कारणपूर्वक हो रही हैं, इस कारण ये सब मिट जाया करते हैं। ये तो सब मिट जाने वाली चीजें हैं। तो जो जब वहाँ जिस कारणपूर्वक होनी है वह वहाँ तब उस कारणपूर्वक होती ही है।

कल्याणकारी सरल अन्तर्बाह्य निर्णय जिस गृहस्थको इन दो बातोंका श्रद्धान होगा एक तो जो समागम मिला है वह नियमसे बिछुड़ेगा। दूसरी बात यह है कि मेरा जब अस्तित्व है तो कभी मेरा विनाश नहीं हो सकता। ये दो बातें जब निर्णयमें आ गई तब उस गृहस्थको दुःख क्या रहा? एक मनुष्य दुःख दो बातोंका मानते हैं एक तो कहीं मैं नष्ट न हो जाऊँ, दूसरे कहीं ये पदार्थ छूट न जायें। सो पदार्थ हमसे छूटेंगे ही और छूटेंगे क्या? इस समय भी पदार्थ हमसे छूटे हुए ही हैं। आप लोग यहां मंदिरमें आये हैं तो घर, धन आदि साथमें चिपक कर आये हैं क्या?...नहीं। तो सब आपसे दूर दूर ही हैं। आप उन सबसे निराले हैं। आपने उन परपदार्थोंको मान लिया कि ये मेरे हैं तो यह आपकी कल्पना ही तो हुई। ऐसा माननेसे कहीं वे परपदार्थ आपके तो न बन जायेंगे। कल्पना करने मात्रसे यदि परपदार्थ अपने बन जायें तब तो फिर आप भगवानसे भी बढ़कर हैं। भगवानसे भी बड़े हो गए (हँसी)। कोई परपदार्थ किसीका हो जाये ऐसा हो नहीं सकता। सभी पदार्थ स्वतंत्र हैं, और बड़े-बड़े छह खण्डके चक्रवर्ती छह खण्डका राज्य तजकर याने सारे भारत क्षेत्रका साम्राज्य छोड़कर जंगलमें निर्ग्रन्थ दिगम्बर होकर रहते हैं, तो उनको छह खण्डके वैभवसे भी अधिक कोई अलौकिक सुख मिला है तभी तो उन्होंने सारा राज वैभव छोड़ा। तो निर्जन बनमें अकेले रहकर भी उन्हें जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है तो वह किसका आनन्द है? अपने ज्ञानास्वभावकी अनुभूतिका अनुपम आनन्द है। अपना आत्मा अपने आपकी दृष्टिमें आ जाये इसमें जो आनन्द भरा हुआ है उस आनन्दका अनन्तवाँ हिस्सा भी कहीं बाह्यपदार्थोंके समागममें नहीं है।

सर्वस्वसार अमर ज्ञानस्वरूपके अनुभवमें असंख्यभवद्वन्द्वकर्मक्षपणकी क्षमता असंख्याते या अनन्ते भवोंके कर्म अब भी हम आपके साथ लगे हैं। यह न जानें कि पूर्वके एक भवके बांधे हुए कर्म ही हमारे साथ हैं। करोड़ों भवोंके बांधे हुए कर्म भी अब तक हमारे साथ हैं। और, यों कह लीजिए कि किसी जीवके तो

अनन्तभवोंके बाँधे हुए कर्म भी साथ लगे हैं। अनन्तभवोंके मायने अनन्तानन्त नहीं किन्तु जितने भवोंको अवधिज्ञानसे न जान सकें। अन्त तो है उनका पर जो अवधिज्ञानमें आयें उससे भी परेकी बात है, उसे भी अनन्त कहते हैं। निगोदजीवके एक ही दिनमें कितने भव हो जाते हैं। जब एक श्वासमें १८ भव निगोदके बन गए तो एक मिनटमें करीब १३८० भव बन गए। एक घंटामें ८२८०० हो गए। अब आप १ दिन रातके भव देख लीजिए कितने हो गए? १९८७२०० और, कोई निगोद जीव यदि १०-२० वर्ष निगोदमें रहे तो कितने भव हो गए? वहाँसे निकलकर मनुष्य हो गए तो उसके वे सब भवोंके बाँधे हुए कर्म हम आप सभी जीवोंके साथ हैं। इतने कर्मोंको काट देना किस बलपर होता है? जब आत्मा अपने आपमें अपने उस आत्माके शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपको निहारता है और वहीं तृप्त रहता है, विलक्षण आनन्दका अनुभव करता है तो उस समय परभावोंका लगाव छूट जानेके कारण असंख्याते अथवा नन्ते भवके बाँधे हुए कर्म क्षण मात्रमें खिर जाते हैं। यह बात किसी सांसारिक सुखमें रह कर नहींकी जा सकती है। तो आत्माके अनुभवका आनन्द अनुपम आनन्द होता है।

प्रकृत अर्न्तार्हनिर्णयका प्रभाव जिसने इतना भी अपने निर्णयमें रख लिया कि हमें जो भी समागम प्राप्त हैं वे नियमसे शीघ्र ही बिछुड़ जायेगे। अब कोई चाहे त्याग करके छोड़े और चाहे जीवित समयमें ही लुटेरे लूट ले जायें, अथवा मर जायें तो छूट जायें, समागम तो छूटेंगे ही। द्वितीय बात यह है तब सच्चा ज्ञानप्रकाश बनायें कि मेरे आत्माका सब। स्व धन मेरा ज्ञानस्वरूप है। मेरे ज्ञानस्वरूपके अलावा मेरा रंच मात्र भी कुछ नहीं है ऐसा निर्णय बनायें और भीतर ही भीतर इसका बारम्बार विचार करें, इस भावनाको पुष्ट बनायें कि मेरा तो सब कुछ कंवल ज्ञानस्वरूप है, इस ज्ञानस्वरूपके अलावा अन्य कुछ भी मेरा नहीं लगता। जो कुछ मिला है वह सब मुझसे निराला है। अब भी छूटा हुआ है और देशसे भी जल्दी छूट जायेगा। दूसरी बात यह निर्णयमें रखना है कि मेरा विनाश कभी नहीं होता। आज हम यहाँ हैं, यहाँसे मरण करके किसी दूसरी जगह पहुँच गए तो इसमें मेरा क्या बिगाड़? बिगाड़ तो मोही जीव मानते हैं कि मैंने यहाँ इतनी इज्जत बना ली, इतना परिचय कर लिया है, इतना धन संचित कर लिया है, हाय! यह सब कुछ छूटा जा रहा है। अरे यह सब तो तब भी असार था जब मान रहे थे कि मेरा कुछ है यहाँ। तब भी यह सब कुछ आपसे बाहर ही था, पर अपनी बरबादीका कारण बन रहा था। मेरा क्या बिगाड़ है? छूट जाये तो छूट जाये। अपने आत्माके स्वरूपके अभ्यासका इतना धुनिया बन जाये कि सारा जहान भी अगर हमें पागल कहने लगे तो कहने दो, क्योंकि दुनिया चिपकी जा रही है वैभव इज्जत से। और, वैभव, इज्जत मेरी निगाहमें तृणवत् है, तुच्छ है। एक ज्ञानास्वरूप ही मेरा सर्वस्व धन है यह मेरी दृष्टिमें रहे, उसहीमें मैं निरन्तर लीन रहा करूँ। बस हे प्रभो ! हमें एक यही आकांक्षा है। अगर बीमारी आ गई, दिल धड़क रहा है, हार्ट फेल जैसी नौबत आ रही हो ता ज्ञानी यह देख रहा है कि मेरा तो कुछ भी नहीं हो रहा। शरीर-शरीरमें है, मैं ज्ञानास्वरूपमें पूराका पूरा हूँ, इस जीर्ण खराब शरीरमें न रहकर किसी नवीन अच्छे शरीरमें पहुँचूँ। कोई भी शरीर मुझे न मिले। मैं केवल रह जाऊँ जैसा मेरा खालिस स्वरूप है, ज्ञान और आनन्द अमूर्त स्वरूप, जिसमें रूप, रस, गंधादिक नहीं हैं ऐसे ही मैं अपने इस ज्ञानानन्द स्वरूपमें बस जाऊँ, बस यही भावना है। शरीर मिलनेकी तो भावना है ही नहीं। तब क्या बिगाड़ है? जो होता हो, होओ, छूट रहा है छूटे, मेरा कुछ नहीं छूटा। जो मेरा है वह मुझसे छूट नहीं सकता। जो मेरा नहीं है वह मुझमें मिल नहीं सकता। जितने पदार्थ हैं वे सब स्वरूपसिद्ध हैं, स्वतंत्र हैं। किसी पदार्थका किसी अन्य पदार्थमें मेल नहीं होता। भले ही मिल जायें, जैसे आज दिख रहे हैं ये खम्भा भीत वगैरह मिले हुए हैं लेकिन यहाँ भी प्रत्येक परमाणुकी सत्ता न्यारी न्यारी

है। कोई किसीके स्वरूपमें मिल नहीं सकता। तब ऐसी स्थितिमें कोई चीज बिछुड़ जाये तो उससे मेरा क्या बिगाड़ है?

प्रकृत अन्तर्बाह्य निर्णयकी उपयोगिताका उपसंहार मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, जिसका कभी विनाश नहीं होता। मैं अपने ज्ञानके निकट रहूँ तो यहाँ भी आनन्दमय हूँ और जहाँ भी जाऊँगा, वहाँ भी मैं अपने ज्ञानस्वरूपके निकट रहूँ तो वहाँ भी आनन्दमय रहूँगा। और, जब अपने स्वरूपमें न रहकर बाहरी किसी पदार्थमें नेह लगा रहे हैं तो यहाँ भी हम आनन्दरूप नहीं हैं। चिन्ता, शल्य, शोक आदिमें घबड़ाहट जरूर है। तो इतना तो है ही कि जैसे मछली जलसे बिछुड़ गयी, बाहर पड़ी है तो वह तड़फ तो रही ही है, ऐसे ही यह उपयोग जब ज्ञानसमुद्रसे दूर पड़ गया, बाहरमें ज्ञानदृष्टि लगा दी तो यह उपयोग तो घबड़ायेगा ही। बाहरमें उपयोग लगा तो वहाँ नियमसे व्याकुलता ही मिलेगी। वहाँ शान्ति नहीं मिल सकती। तो जिस गृहस्थको यह निर्णय है वह यहाँ रहता हुआ भी सुखी है। एक तो यह निर्णय बनाना जरूरी है कि जो भी समागम मिला है यह नियमसे जल्दी ही बिछुड़ेगा। और दूसरा यह निर्णय बनाना होगा कि मैं आत्मा ज्ञानसर्वस्व हूँ। मेरे इस ज्ञानानन्द सर्वस्व आत्माका कभी विनाश नहीं होता। ये दो निर्णय तो अवश्य रखना चाहिए।

ज्ञानी पुरुषका होनीविषयक चिन्तन अब ज्ञानी पुरुष बाह्य बातोंमें यह विचार कर रहा है कि बाहरमें जो घटना होती है, जो परिणमन होता है वह जिस निमित्त सन्निधानमें जिस वातावरणमें जिस प्रकारसे होना है उस प्रकारसे होगा। उसे मेटनेके लिए न इन्द्र समर्थ है और न जिनेन्द्रदेव समर्थ हैं। प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है अर्थात् प्रत्येक पदार्थ अपने ही द्रव्यमें परिणमनता है, अपने ही प्रदेशसे परिणमनता है और अपनी ही पर्यायसे परिणमनता है, अपनी ही शक्तिमें परिणमनता है और फिर ऐसे परिणमनते हुए पदार्थका जो बाह्य वातावरण है याने जिस देशमें जिस समयमें जिस प्रकारसे जो बात हाने वाली है वह होती है, उसे टालनेमें समर्थ नहीं है। सर्वज्ञदेव सर्व अवस्थाओंको जानते हैं। यहाँपर एक केवल निश्चयदृष्टिसे ही निरखा तब तो वहाँ उसे यह ही दिखेगा कि इस द्रव्यमें इस द्रव्यकी परिणतिसे पर्याये होरही हैं, अन्यसे मतलब क्या है? लेकिन जब युक्तिपूर्वक विचार करने बैठते हैं तब सह समझमें आता है कि जितनी भी विभाव परिणतियां हैं, उल्टी परिणतियां हैं, वस्तुके स्वभावके विरुद्ध परिणतियां हैं, वे परिणतियां वस्तुमें स्वभावतः नहीं हुआ करती हैं। होती हैं वस्तुमें किन्तु वे अन्य निमित्त पाकर हुआ करती हैं, अन्यथा ये विभाव स्वभाव बन जायेंगे। तो यह तो निश्चित है कि जितने भी रागादिक गुजरते हैं वे निमित्त सन्निधानमें गुजरते हैं। वे अनैमित्तिक परिणति नहीं हैं, लेकिन यहाँ भी यह विश्वास बनाना होगा कि कुछ भी निमित्त हो, किसी पदार्थकी परिणति किसी दूसरे निमित्तभूत पदार्थसे निकलकर नहीं आती। तो इसे सर्वज्ञदेव जानते हैं, अवधिज्ञानी जानते हैं। उनके जान लेनेसे यह निर्णय हो गयाकि जो कुछ जब होना है, जिस समय होना है, जिस प्रकारसे होना है वह उस प्रकारसे होता है। इस बातको हिन्दी कवियोंने एक दोहेमें बताया है कि “जो जादेखी वीतरागने सो सो होती बीरा रे। अनहोनी नहीं होती कबहूँ, काहे होत अधीरा रे।।” हे मनुष्य! तू अधीर क्यों होता है? तू यह समझता है कि हाय! ऐसा हो गया, ऐसा न हो जाये, आदि इतनी अनेक कल्पनायें तू क्यों करता है? देख बाह्य पदार्थोंमें जब जो परिणमन होना है, होगा। इन बाह्य परिणमनोंसे भी दूसरेमें कुछ आता नहीं है। तेरा परिणमन तुझमें है, और, विभाव परिणमन निमित्तपूर्वक हैं, फिर भी वे सब तेरे ही परिणमन हैं। पूर्वपर्यायसंयुक्त द्रव्य उत्तर पर्यायका उपादान कारण है। सो अपने ही भावोंके द्वारा अपना ही अगला भाव बनता चला जाता है। अतः अब अधीरता मत करो और इन बाह्यपदार्थोंका विकल्प त्यागकर अपने आपके सहज ज्ञानस्वरूपमें विश्राम करो। इसमें तेरी उन्नति है। बाह्यपदार्थोंके विकल्प करनेसे तेरी उन्नति नहीं है।

ज्ञान व प्रशमके बलपर कर्मोका संहार अहा ! आत्माके अनुभवमें जो आनन्द उत्पन्न होता है, समस्त बाह्यपदार्थोंका राग छोड़कर जो उपयोगको विश्राम मिलता है उस विश्राममें जो आनन्द उत्पन्न होता है उस आनन्दमें सामर्थ्य है कि असंख्याते भवोंके बाँधे हुए कर्मोंको नष्ट करदे। एक कविने कहा है कि हे प्रभो! बड़े आश्चर्यकी बात है कि लोग तो शत्रुको तब नष्ट कर पाते हैं जब कि तेज क्रोध मन लायें, पर आपने तो अपने इन कर्म शत्रुओंका नाश करनेके लिए क्रोधके बजाये उत्कृष्ट शान्तिरूपी शस्त्रको अपनाया। सो बात सही है। ये कर्म शत्रु शान्तिके बलपर ही नष्ट हो सकते हैं, क्रोधके बलपर नहीं। तो जो अपने आपके स्वरूपका निहारता है उसमें ही पूज्यता है और वही सर्व कर्मोंका नाश करनेमें समर्थ है, वह अपना उद्धार कर लेगा। और, जो पुरुष दूसरे-दूसरेकी ही बातको निहारता है और कुछ थोड़ा सा शुभ भाव बनाता है तो यों धुन बनाता कि दूसरे लोग धर्मात्मा बनें, और लोग यह कहने लगें कि इनका धर्म बहुत अच्छा है। विद्वान बुलवाया, व्याख्यान दिलवाया, जलूस निकाला, इसलिए कि सभी लोग समझ जायें कि इनका धर्म बहुत अच्छा है, ये सभी लोग धर्मात्मा बन जायें, ऐसी जो पुरुष धुन रखते हैं और खुद धर्मात्मा बन नहीं पाते हैं, खुद उस तत्वका अनुभव कर नहीं सकते हैं तो ऐसे यदि १०० आदमी हों इस विचारके कि ये ९९ आदमी इस धर्मको खूब समझ जायें तो यहां एकने भी धर्मका रूप और तब सम्भव है कि दूसरेके दिलपर भी उसका सही प्रभाव बन जायेगा कि दूसरे लोग भी धर्मका पालन करेंगे। सो जो पुरुष इस तरहसे पहिचानते हैं कि जब जहां जैसा जो कुछ होना है वह होगा, उसे कोई मेटेगा नहीं, तब क्यों कुछ सोचकर अधीर होते हो? इसी विषयके निर्णयको अब इस गाथामें कह रहे हैं।

**एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वणि सव्व-पज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥ ३२३ ॥**

द्रव्य गुण पर्यायके निर्णयसे वस्तुस्वान्वयकी दृष्टि उक्त प्रकारसे जो अपना निर्णय रखता है, समस्त पर्यायोंको सही रूपमें जानता है वह तो शुद्ध सम्यग्दृष्टि है, और जो इस प्रवृत्तमें शंका करता है सो वह मिथ्यादृष्टि जीव है। द्रव्य ६ प्रकारके बताये गए हैं जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। द्रव्य ६ नहीं किन्तु अनन्त हैं, क्योंकि जीव ही अनन्तानन्त हैं। पुद्गल उससे भी अनन्त गुने हैं। असंख्याते कालद्रव्य हैं, धर्म, अधर्म, आकाश ये एक एक हैं, किन्तु ये अनन्त पदार्थ ६ जातियोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। तो इन पदार्थोंकी फिर पर्यायें हैं। गुणोंकी पर्याय, प्रदेशकी पर्याय, तो द्रव्य है, द्रव्यमें शक्तियां हैं। उन शक्तियोंकी परिणतियां होती हैं। द्रव्य शाश्वत है, शक्ति भी हमेशा रहने वाली है और उनका जो परिणमन हो रहा है वह अनित्य है, नष्ट हो जाने वाला है। यों द्रव्य, गुण, पर्यायोंका जो निर्णय रखता है वह है ज्ञानी, और जो इसमें शंका करता है वह है मिथ्यादृष्टि जीव। तो यही निरखना है कि प्रत्येक द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्य वाला है। वह अपनेमें अपनी नवीन परिणति बनाता है, पुरानी परिणति विलीन करता है, फिर भी सदा बना रहता है। अतएव किसी द्रव्यके साथ सम्बन्ध नहीं है। यों वस्तुकी स्वतंत्रताको जो निहारता है वह ज्ञानी जीव है।

**जो ण विजाणदि तच्चं सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं।
जं जिणवरेहिं भणियं तं सव्वमहं समिच्छामि ॥ ३२४ ॥**

किसी सूक्ष्म तत्वका अबोध होनेपर भी प्रयोजकतत्व श्रद्धा व जिनवचन श्रद्धासे सम्यक्त्वकी अबाधितता जिसने अपनेको बाहरी पदार्थोंसे अपना हित नहीं माना है, अपने स्वरूपसे बाहर अपनी दृष्टि जाये तो वह अपने अनर्थके लिए ही है, ऐसा जिसने निर्णय कर रखा है और इस निर्णयके बलपर अपने आपके

सहजज्ञानस्वभावका अनुभव कर लिया है ऐसा कोई पुरुष किसी कठिन तत्त्वको न भी जान पाये तो भी उसका श्रद्धान रहता है कि जो जिनेन्द्रदेवने कहा है उस सबको मैं मानता हूँ, वह सब समीचीन है। तत्त्वका स्वरूप और नाना प्रकारके धर्मोंका वर्णन एक बड़े विस्तार वाला विषय है। दर्शनशास्त्रमें इसका इतना वर्णन किया गया है कि पढ़ते-पढ़ते जीवन भी व्यतीत हो जाये तो भी अनेक स्थलोंमें बहुत कठिन और सूक्ष्म है। यदि कोई जीव उन सब तत्त्वोंको नहीं जान पाता तो क्या वह सम्यग्दर्शन नहीं पा सकता? उसीका उत्तर बताया गया है कि सम्यग्दृष्टि बहुत कठिन तत्त्वोंको भी नहीं जान पाये लेकिन वे जिनवचनमें श्रद्धान करते हैं कि प्रभुने जो बताया है वह सब सत्य है। अब नरक और स्वर्गको यहाँ किसने देखा? जैसे जा जाकर कुवां, बावड़ी आदि देख आते हैं अब इस तरहसे नरक भी देखे जाते हैं क्या? लेकिन जिनको वीतराग धर्मकी अभिरुचिसे अपने आपके स्वरूपका श्रद्धा हुई है, अटूट आनन्द पाया है, जिनको उस तत्त्वमें कोई विरोध नहीं जंचा है उनका यह सब निर्णय है कि जो जिनवचनमें कहा गया है कैसा नरक है, कैसा स्वर्ग है, उनकी नाप, उनकी रचना आदि वह सब युक्तिसंगत है।

प्रयोजनभूत जीवादिक सप्ततत्त्वोंका श्रद्धान व जीव-अजीवका निर्णय जैसे विचार मैं रख रहा हूँ वैसे ही विचार दूसरेका मालूम पड़े और मूल सहित मालूम पड़े तो उस व्यक्तिमें रुचि हो जाती है, श्रद्धा हो जाती है कि यह बिल्कुल साफ है और स्वहित चाहने वाला है। तो जब जिनेन्द्र वचनमें जो कुछ तत्त्वकी बात कही गई है जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष, जब इन ७ तत्त्वोंके सम्बंधमें बुद्धि लगाते हैं तो यह वर्णन हमको यथार्थ जंचता है। बस इसकी श्रद्धा है। इसके बलपर सम्यक्त्वकी बात कही जाती है। इस कारण छहठालामें यह कहा है कि जीवादि-प्रयोजनभूत तत्त्व, मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्व हैं। उनके बारेमें उल्टी श्रद्धा हो तो मिथ्यादर्शन है और समीचीन श्रद्धा हो तो सम्यग्दर्शन है। जिसको अपना हित चाहिए उसको यह निर्णय करना होगा कि मैं जीव हूँ, इस देहसे निराला, ज्ञानानन्दस्वरूपसे रचा गया समस्त बाह्यपदार्थोंके प्रवेशसे रहित निरापद यह मैं जीव हूँ, पर इसके साथ कोई अजीव भी लगा हुआ है, तभी तो आज इतनी उल्टी परिणति हो रही है। किसी भी पदार्थमें जो उल्टा परिणमन होता है तो उससे उल्टी परिणति हो रही है। किसी भी पदार्थमें जो उल्टा परिणमन होता है तो उससे उल्टी चीज साथमें लगी हो तब होती है। जैसे पानी ठंडा है, लेकिन जब कोई गर्म चीज साथमें लग जाये, जैसे आगपर बटलोही रख दी गई, तो झट पानी गर्म हो गया। तो जैसे ठंडे पानीको गर्म करनेके लिए कोई उल्टी चीज साथमें होना चाहिए। ठीक ऐसी ही बात अपनी समझिये जब मेरा स्वरूप जाननेका है और आनन्दमय रहनेका है तब ऐसा न हो तो कारण क्या है कि मैं जीव हूँ तो वह विरुद्ध चीज अजीव होना चाहिए। मैं अमूर्त हूँ तो वह विरुद्ध चीज मूर्तिक होना चाहिए। ऐसे ही है ये कर्म। ज्ञानावरण आदिक ८ भेद वाले ये कर्म अजीव हैं और मूर्तिक हैं। तो जीवके साथ ये कर्म लगे हुए हैं बस ये अजीव हैं। अजीव तो शरीरादिक भी हैं, पर यहाँ ७ तत्त्वोंके सम्बंधमें कह रहे हैं तो चूँकि आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, इनके कथनमें कर्मकी बात आयेगी तो यहाँ अजीवको देखना कर्म। यह मैं ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा हूँ और इसके साथ ये अज्ञान मूर्तिक कर्म लगे हुए हैं।

सुदृष्टिकी आस्रवबन्धविषयक निर्णय ये कर्म मेरेमें, जीवमें शुरूसे नहीं पड़े हुए हैं। अनादिसे परम्परासे तो पड़े हैं, मगर जो कर्म जब बना उससे पहिले वह कर्म न था। तो ये कर्म आये हुए हैं और ये आते हैं रागद्वेष भावके कारण। इस मनुष्यको जरा-जरा सी बातोंमें रागद्वेष करना अनुकूल जंच रहा है, सामर्थ्य है इसमें। पशुओं पर, पक्षियों पर, गरीबोंपर इसका बल प्रयोग भी हो जाता है, और इसको रागद्वेष करना बड़ा आसान जंच रहा है, लेकिन कितना खोटा परिणाम है कि जन्म मरणका ताँता लग जायेगा, आकुलता हो जायेगी, अनेक कर्म बंध

जायेंगे। बड़े-बड़े महापुरुषोंने तीर्थकर चक्रवर्ती जैसे बड़े समृद्धिशाली लोगोंने सब कुछ त्यागकर यह पसंद किया था कि मैं अपने इस ब्रह्मस्वरूपको देखूँ और वहां ही तृप्त रहूँ, अब किसे जानें, क्या करना, कहां बोलना, बाहरकी सारी क्रियायें सारहीन हैं। वे अपने आपके स्वरूपमें रमकर तृप्त रहते हैं। और यहां मुग्ध पुरुषोंको रागद्वेष करना आसानसा जंच रहा है। जरा भी कंट्रोल नहीं है कि मैं थोड़ा रागद्वेष मोह कम करूँ। क्यों स्वच्छन्दतासे ऐसे परपदार्थोंमें बहूँ, इसके लिए इसकी बुद्धि नहीं जगती। मेरे ये रागद्वेष हो रहे हैं, ये ही कर्मके आस्त्रवके कारण हैं। इन भावोंका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें कर्मरूप बनती हैं, और, इसी भावकी संक्लेशकी तरतमतासे, उन कर्मोंमें स्थिति बंध जाती है। यहां उन तत्त्वोंका वर्णन किया जा रहा है कि जिनको ठीक-ठीक समझे बिना हम अपना हित नहीं कर सकते। एक क्षणके मोहकी गलतीमें ७० कोड़ा कोड़ी सागर तककी स्थितिका कर्म बंध जाता है। एक सागर ही बहुत बड़ा है। जिसमें अनगिनते वर्ष समा जाते हैं, फिर ७० कोड़ा कोड़ी सागर कितना महान काल है? इतने समय तकके लिए एक क्षणकी गलतीमें कर्म बंध जाते हैं और जैसे ७० कोड़ा कोड़ी सागरका कर्म इस समय बांध लिया तो वह कर्म मान लीजिए ७०० वर्ष तक उदयमें न आयेगा, लेकिन इसके बाद जब उसका उदय होना शुरू होगा तबसे लेकर ७०० वर्ष कम ७० कोड़ा कोड़ी सागर तक लगाकर उदयमें फँसे हुए हैं। जैसे ये पतंगे रूपके लोभी होकर दीपकपर गिर जाते हैं और मर जाते हैं इसी तरह ये संसारी जीव रागद्वेष करके अपना इतना अनर्थ कर डालते हैं और फिर भी रागद्वेष न करें यह बुद्धि नहीं जगती। भगवानकी बात न सुहाये और भगवानकी भक्ति करे तो उसे भक्ति कैसे कही जा सकती है? भगवानका वचन है कि इस अपने आपमें सात तत्त्वोंकी बातका निखार बना लीजिए। कर्म बंध गए, अब जब उनका उदयकाल आता है तब इस जीवको क्रोध, मान, माया, लोभ, जन्म-मरण, आदि विचित्र बातें उत्पन्न होती रहती हैं। यह तो हुई संसारके जकड़ावकी चर्चा कि किस तरह हमारा संसार जकड़ाव बना हुआ है। अब सुनो मोक्षका चर्चा।

सुदृष्टिका संवरनिर्जरा मोक्षविषयक निर्णय कौनसा उपाय है वह कि जिस उपायसे हम इस बंधनसे मुक्त हो जायें, सहज शाश्वत सत्य सुखी हो जायें। वह उपाय है संवर और निर्जरा। सम्बर कहते हैं कर्मके न आनेको। अब कार्माण वर्गणा कर्मरूप न बनें इसको कहते हैं सम्बर। सब जीव रागद्वेष मोहका त्याग करता है तो जितने अंशोंमें रागद्वेष छोड़ दिया है उतने अंशोंमें संवर तत्त्व प्रकट होता है। एक बात सोचिए कि मेरा जीव यदि आनन्दमय हो जाये तो इससे आगे आपको और क्या चाहिए? मान लो दो चीजें मुकाबलेमें रखी हैं एक ओर तो यह धन बढ़े, इज्जत बढ़े, परिवार बढ़े, बड़े-बड़े आरामके साधन हों और एक ओर यह बात आये कि मैं अपने ज्ञानानन्दस्वरूप इस निज परमात्मतत्त्वका दर्शन करूँ और इसके ही निकट अपना ज्ञान रख करके अपना ज्ञान रख करके तृप्त रहूँ, यदि कोई कुछ ऐसी शंका करने लगे कि देखो यदि हम अपने इस ज्ञानानन्दस्वरूपको जानकर वहीं तृप्त रहनेका उद्यम करता हूँ तो हमारी दूकान खराब हो जायेगी। घरके बाल-बच्चे फिर बेकारसे हो जायेंगे? उन्हें पाले-पोषेगा कौन? और, हमारी इज्जत भी फिर कोई न करेगा। कौन हमें जानेगा! तो यहाँ विचार करें कि यदि एक यह अपनी बात मिलती है कि मैं अपने ज्ञानानन्दस्वरूपमें बसकर विलीन हो जाता हूँ, तो यह तो सत्य आनन्दमय हो गया। उसको अब बाहरमें क्या पड़ी है? चाहे जो बने जो बिगड़े, कहीं कुछ हो? जैसे लोग कहावतमें कहते हैं कि लेवा मरे या देवा, बलदेवा हो या कलेवा। कोई बलदेवा नामका दलाल था, वह किसानोंका अनाज बेचनेकी दलाली करता था। सो एक दिन किसी किसानके अनाजकी दलाली की। तो जिसका अनाज बेचा उसने सोचा कि आज तो हमारा माल सस्ता चला गया, इस कारण वह बड़ा खेद मानने लगा, और जिसने वह अनाज खरीदा उसे यह ख्याल हुआ कि आज हमने तेज खरीद लिया। तो दोनों जगह अलग-अलग बैठे हुए दोनों

व्यक्ति(अनाज बेचने वाला व खरीदने वाला) दुःखी होते रहे। अब बलदेवा तो साथमें नाशता रखे था, देर हो जानेसे काफी भूख भी लग गई थी, सो अपना कलेवा निकाला और एक पेड़के नीचे बैठकर आरामसे कलेवा करने लगा यह कहते हुए कि लेवा मरे या देवा, बलदेवा करे कलेवा। तो यह एक लौकिक बात बतायी है। यहाँ परमार्थकी बात समझता है कि इन बाह्यपदार्थोंका परिणमन हमारे आधीन नहीं है, कारणकूट और उपादानके अनुसार जिस पदार्थका, जिस जीवका जैसा परिणमन होना है, होगा। उसपर हमारा अधिकार भी नहीं और उससे मेरा कुछ होता भी नहीं। इसलिए बाहरमें कहीं कुछ हो सो हो। मैं स्वामी भी नहीं और न बाहरी पदार्थोंसे मेरेमें कुछ प्रभाव आता है। तब मैं तो अपने इस ज्ञानानन्दस्वरूपको ही निरखूँ और उसमें ही बस करके तृप्त होऊँ। एक ही निर्णय है ज्ञानी पुरुषका। यहाँ बताया जा रहा है कि कर्मोंका सम्बर किस उपायसे होता है, वह उपाय है रागद्वेष मोहका त्याग। धर्म भी यही है कि इस रागद्वेष मोह मलिन भावोंका परिहार करें। अब शुद्धिके अनुसार सम्बर करता हुआ ज्ञानी इच्छाके अभावसे जो अपने विशुद्ध आत्मामें बद्ध रहा है वह उसका शुद्धोपयोग कर्मोंकी निर्जराका कारण बन रहा है। नये कर्म तो आयें नहीं और पुराने बँधे हुए कर्मोंकी निर्जरा हो जाये तो यही तो फल होगा कि किसी समय एक भी कर्म यहाँ न रहेंगे और मुक्ति प्राप्त होगी।

संवरनिर्जरा-मोक्षस्वरूपका दृष्टान्तपूर्वक प्रतिपादनोपसंहार जैसे जिस नावमें छिद्र हो गया है, वह नाव किसी नदी या समुद्रमें चल रही है तो उस नावमें छिद्रके द्वारसे पानी आ रहा है। यह तो समझिये नावमें पानीका आस्रव और पानी उसमें आकर अगर ठहर गया है तो यह है नावमें पानीका बंध और यदि मल्लाह चतुर है तो उस नावको डूबनेसे बचानेके लिए (मुक्ति देनेके लिए) यह उपाय करता है कि सबसे पहिले तो उसके छिद्रको बन्द करता है। उसे यह आकुलता नहीं होती कि इस पानीसे नाव डूब जायेगी, वह तो उस पानीको निकालनेके बजाये उसमें नया पानी न आने देनेका उपाय करता है। उस छिद्रको बन्द कर दिया तो यह हुआ पानीका सम्बर और सम्बर जब बन चुका तो कटोरा आदिक जो उनके योग्य उपकरण हैं उनसे पानीको उलीचता है। फल यह होता कि नावमें पानी नहीं रहता और पानीके संकटसे नाव मुक्त हो जाती है। इसी प्रकार मिथ्यात्व रागद्वेष मोह विषयकषाय इन सब भावोंके कारण कर्म आते हैं, यह है आस्रव, और जैसे यह क्रूरता, तीव्रता, कषाय बनी है, उसके अनुसार ये कर्म यहाँ ठहर जाते हैं। यह है बन्धन, और रागद्वेष मोह न करें, रागद्वेष मोहसे निराले केवल ज्ञानानन्दस्वरूप निज परमात्वतत्त्वका दर्शन करें तो इस उपायसे वे कर्म न आयेंगे, यह है सम्बर। और, इन्हीं कारणोंसे पहिले आये हुए कर्म झड़ते जायेंगे और इस उपायसे एकदम भी शेष कर्म झड़ जायेंगे, यह हुई निर्जरा। तो जहाँ संवर पूर्ण है और निर्जरा भी हो चुकी। तब वहाँ समस्त कर्मोंसे मुक्त होकर यह जीव भगवान होता है, तो इस प्रकार जिस जीवको सातों तत्त्वोंके विषयमें श्रद्धान है और वह एकदम किसी गहन तत्त्वको न जान पाये,पर उस सब कथनके बारेमें वह ऐसा निर्णय रखता है कि जो प्रभुने कहा है उस सबको मैं चाहता हूँ, अर्थात् वह सब समीचीन है। उसमें मुझे कुछ भी शंका नहीं है।

रयणाण महारयणं-सर्वं-जोयाण उत्तमं जोयं।

रिद्धिण मह-रिद्धी सम्मत्तं सर्व-सिद्धियरं ॥ ३२५ ॥

सम्यक्त्वकी महारत्नस्वरूपता अब इस गाथामें सम्यक्त्वका माहात्म्य बता रहे हैं। यह सम्यक्त्व रत्नोंमें महारत्न है। जितने रत्न लोग समझते हैं कि बड़े कीमती हैं, जैसा कि दो दो रत्नी भी मूल्य लोग लाख रुपया समझते हैं, ऐसे अमूल्य रत्न ये कुछ भी मूल्य नहीं रखते हैं, उनसे भी अति अमूल्य महारत्न यह सम्यक्त्व है।

मोटे रूपसे भी देखिये जैसे लोग कहते हैं कि रत्न, स्वर्ण बहुत अधिक भी जोड़ लिया तो उससे क्या? कहीं वह खानेके काम तो न आयेगा? खानेके काम तो अन्न ही आयेगा। यह एक लौकिक ऊपरी बात कह रहे हैं और भीतरी बात निरखें, तो तीनों निरखें तो तीनों लोकका वैभव ढेर भी सामने हो जाये तो भी उससे इस आत्माको लाभ कुछ नहीं मिलता। इसे शान्ति मिले, इसको ज्ञानप्रकाश जगे यह बात तो उससे नहीं बनती, तो वह रत्न क्या रत्न है? महारत्न तो यह सम्यक्त्व है। जिसको चित्तमें सच्ची बातकी श्रद्धा हो जानेपर विशेष आदर है कि सबसे बड़ा धन है तो यही धन है कि मैं सर्व पदार्थोंका तत्त्व रहस्य स्वरूप यथावत् समझ लूँ, इसमें जिसका आदर है वह पुरुष निकट भव्य है और संसारके सर्वसंकटोंसे निकट कालमें ही वह मुक्त हो सकता है। तो रत्नोंमें महारत्न है यह सम्यक्त्व, क्योंकि सम्यक्त्वके प्रभावसे इन्द्र और अहमिन्द्र आदिक बड़े बड़े पद प्राप्त होते हैं और इसलिए भी महत्त्व नहीं, किन्तु यह निर्वाण पदका देने वाला है, इसी कारण सम्यग्दर्शन सब रत्नोंमें एक महान रत्न है। रत्न कहते हैं सारी चीजको। पत्थरोंका नाम रत्न नहीं है पर लोगोंने पत्थरोंको ही सार चीज समझा इसलिए उसका नाम रत्न पड़ गया। रत्नमें जो शब्दका अर्थ है वह तो यही है कि जो जिस जातिमें उत्कृष्ट है वह उस जातिमें रत्न है। यों मनुष्यरत्न, स्त्रीरत्न, पुरुषरत्न, आदि सभीके साथ रत्न शब्द जोड़ा जाता है, तो वास्तवमें रत्न रत्न है, सारभूत चीज है तो वह है सम्यक्त्व। उस सम्यक्त्व महारत्नका आदर करना चाहिए और सम्यक्त्व लाभके लिए अगर अपना मन, तन, धन, वचन सर्वस्व भी अर्पित करना पड़े तो सहर्ष न्योछावर करके एक इस सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेना चाहिये। सम्यक्त्वका लाभ इतना महान लाभ है कि जिसके प्राप्त कर लेनेपर निकट कालमें ही संसारके समस्त संकट छूट जाते हैं।

सम्यक्त्वकी महायोगरूपता पदार्थका अपने आपमें अपने आपहीके कारण स्वयं जैसा स्वभाव है, स्वरूप है उसका दर्शन होना, निर्णयात्मक परिचय होना सो सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन रत्नोंमें महारत्न है और यही सम्यग्दर्शन सर्व योगोंमें उत्तम योग है। जितने भी ध्यान किए जाते हैं उन सब ध्यानोंकी सफलता इस सम्यग्दर्शनके कारण है। सम्यक्त्व न हो तो अन्य ध्यानोंका फिर कोई महत्त्व नहीं है। एक योगी था। उसको प्राणायामका बड़ा अभ्यास था, २४ घंटे तक किसी भी जगह जमीनके गड्ढेमें बैठ जाये व ऊपर मिट्टी भर दिया जाये तो भी वह २४ घंटे तक बिना श्वास लिए रह सकता था। तो उस योगीसे राजाने कहा कि तुम हमें २४ घंटेकी समाधि करके दिखाओ फिर तुम जो चाहोगे सो इनाम देंगे। उस राजाकी घुड़सालमें एक बहुत बढ़िया काला घोड़ा था, उसे उस योगीने पसंद कर लिया और सोच लिया कि यही घोड़ा हम इनाममें लेंगे। सो वह योगी जमीनमें बने गड्ढेमें बैठ गया, ऊपरसे मिट्टीसे वह गड्ढा बंद कर दिया। जब २४ घंटेकी समाधि पूरी करके वह योगी निकला तो योगी राजासे बोला महाराज ! लाओ अपना काला घोड़ा। अब बताओ उस योगीने २४ घंटे तक किसका ध्यान किया था? उसी घोड़ेका ही ध्यान किया था ना। तो जो लोग सांसारिक सुखकी इच्छासे ध्यान करते हों, मंत्र तंत्रकी साधना करते हों तो उनका वह परिश्रम बेकारका है। सम्यक्त्व साथ हो तो भी ध्यान कहलाता है। जिस पुरुषको अपने आपके निरालेपनका, ज्ञानानन्द स्वरूपका विश्वास है वह घरमें रहकर भी और व्यापार कार्यकाज करते हुए भी चूँकि उसे अपने आपके बारेमें यह विश्वास है कि मैं इन सब झंझटोंसे कार्योसे निराला केवलज्ञानस्वरूप हूँ। तो उस स्वरूपसे वहाँ भी यथायोग्य ध्यान कहा जा सकता है। तो योगोंमें उत्तम योग यह सम्यक्त्व है। जितने भी धर्मादिक ध्यान हैं उनमें उत्तमध्यान योग्यध्यान यही सम्यक्त्व कहलाता है।

सम्यक्त्वकी ऋद्धिसिद्धिमयता यह सम्यक्त्व समस्त ऋद्धियोंमें उत्तम ऋद्धि है। ऋद्धियां अनेक प्रकारकी होती हैं। जैसे अपने शरीरको अणु बना ले, महन बना ले, हल्का बना ले, वजनदार कर ले, अपना मनचाहा रूप बना ले। अनेक प्रकारके चमत्कारोंको उत्पन्न करने वाली जो ऋद्धि चाहे वह बुद्धिकी ऋद्धि हो, चाहे शरीरकी ऋद्धि हो, सबमें महान ऋद्धि है यह सम्यक्त्व। सम्यक्त्व सर्व सिद्धियोंका करने वाला है। चाहके न होनेमें सर्व वैभवोंकी प्राप्ति हो जाती है। वह किस प्रकार? एक पुरुष धनकी चाहमें रात दिन बसा हुआ रहता है तो उसकी यह चाह कभी पूर्ण यों नहीं हो पाती। यदि लाखों रुपयेका वैभव जुड़ गया तो उससे अधिक धनकी इच्छा है। तो वैभववान नहीं बन सकता। अपने आपको सन्तुष्ट कर लेना ही वैभव है। जहां इच्छा दूर हुई, वहाँ उसके सर्व सिद्धि हो गई। ज्ञानी पुरुष जानता है कि इच्छा परिग्रह है और यह अज्ञानभाव है। इसका मेरे स्वरूपमें सम्बंध नहीं है। मैं स्वभावतः ज्ञानानन्दमय हूँ। मुझे समस्त बाह्यपदार्थोंसे क्या प्रयोजन? जब किसी सांसारिक वस्तुकी चाह न रहे तो समझो कि उसे सब कुछ प्राप्त हो गया। मेरा था वह आनन्द और मुझे वह प्राप्त हो गया।

सही ज्ञान व उसका प्रभाव ज्ञानोंमें सबसे बड़ा ज्ञान यही कहलाता है कि यह समझमें आये कि यह पदार्थ अपनी सत्ता अलग रखता है और इस ही की सत्ताके कारण इसकी पर्यायें इसमें उत्पन्न होती हैं, इसकी पर्याय इसीमें विलीन होती है व यही चीज सदाकाल रहती है। ऐसा ही स्वरूप सब पदार्थोंका है। मैं भी अपने आपमें अपनी बात बनाता हूँ, अपनी ही बात विलीन करता हूँ और यह मैं सदाकाल रहता हूँ। मैं किसी दूसरेकी बात उत्पन्न नहीं कर सकता। दूसरेकी अवस्थाको नहीं बिगाड़ सकता और दूसरेमें मैं प्रवेश नहीं कर सकता, ऐसे सारे पदार्थ हैं। जब सभी पदार्थ अपने-अपने स्वरूपमें उत्पाद व्यय ध्रौव्य रखते हैं तो किसीका किसी दूसरेके साथ सम्बंध नहीं है। अज्ञानसे बढ़कर और कोई विपत्ति नहीं है। ज्ञानसे बढ़कर और कोई सम्पत्ति नहीं। जीव जब भी सुखी हो सकेगा तो ज्ञान द्वारा सुखी हो सकेगा। अज्ञानके रहते हुए वह चक्रवर्ती भी हो जाये तो भी वह शान्त नहीं रह सकता। दर्शन पाठमें कहते हैं कि हे प्रभो! जिन धर्मसे रहित होकर मैं चक्रवर्ती भी नहीं होना चाहता। वस्तुस्वरूपके यथार्थ श्रद्धानसे रहित होकर ६ खण्ड का वैभव भी पाले तो उसमें उसे कोई लाभ नहीं है और जैन धर्ममें मेरा हृदय वासित रहे अर्थात् वस्तु स्वरूपकी यथार्थ श्रद्धामें मेरा चित्त बना रहे और ऐसी स्थितिमें यदि मैं किसीका दास भी बनूँ तो भी मैं पसंद करता हूँ। मैं दास होना स्वीकार करता हूँ पर जैन धर्मसे रहित होकर मैं चक्रवर्ती भी नहीं होना चाहता। सुख साम्राज्य अथवा शान्ति तो मेरे सम्यग्ज्ञानमें ही प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं। किसी पुरुषको इष्टका वियोग हो गया। अब वह निरन्तर विह्वल है हाय! मेरा यह इष्ट गुजर गया। अब उसके दुःखको मेटनेके लिए बहुत रिश्तेदार आते, समझाते, लेकिन उनका समझाना आगमें घी डालनेकी तरह हो जाता है। जैसे कोई घी डालकर आगको शान्त करना चाहे तो वह शान्त नहीं कर सकता, उससे आग और भी बढ़ जायेगी, इसी प्रकार रिश्तेदार लोग आते हैं तो मेरे हुए व्यक्तिके गुण गाते हैं, उसकी याद बार बार दिलाते हैं तो उससे उस सुनने वालेका दुःख और भी बढ़ता है। उस व्यक्तिके दुःखको मेटनेमें समर्थ है सच्चा ज्ञान। जब वह यों समझ लेगा कि मेरा आत्मा निराला है, वह आत्मा निराला था। वह भी मुझसे निराला था। अब वह अपने ही समयसे चला गया। तो उससे मेरा क्या सम्बन्ध था? वह मेरा कुछ नहीं है। मेरा तो मात्र यह मैं आत्मा हूँ, यही मेरा सर्वस्व ज्ञानधन मेरा है। जब इस तरह अपने आपमें अपना निर्णय बनाता है तो वह शान्त हो पाता है। तो किसने सुखी किया? अपने ज्ञानने ही सुखी किया। हर स्थितियोंमें जब हमारा ज्ञान सही होगा तो हम सुखी रहेंगे। जहाँ ज्ञानमें विकार आया कि वहाँ दुःख आ जायेगा। तो सम्यक्त्व ही एक ऐसा महान वैभव है कि जिसमें सारी ऋद्धियाँ, सारे ध्यान हैं, यही महान रत्न है और सर्व सिद्धिको करने वाला है।

**सम्मत्त-गुण-पहाणो देविदं-णरिदं-बंदिओ होदि ।
चत्त-वओ विय पावदि सग्ग-सुहं उत्तमं विविहं ॥ ३२६ ॥**

जिस जीवमें सम्यक्त्व जगा है, वह जीव व्रत धारण किए हुए न हो तो भी देवेन्द्र, नरेन्द्रके द्वारा वंदनीय है और नाना प्रकारके उत्तम स्वर्गसुखको पा लेता है। सम्यग्दर्शन होनेपर आयु मनुष्यकी बँधेगी या देवायु ही बँधेगी। मनुष्य व तिर्यचके देवायु बँधेगी, देव व नारकीके मनुष्यायु बँधेगी सम्यक्त्वके होनेपर। हाँ पहिले यदि कोई दूसरी आयु बँध गई है और बादमें सम्यग्दर्शन हुआ है तब तो उस गतिमें जाना होगा, मगर वहाँ भी कुछ अच्छे ही साधन मिलेंगे। अब अपनी बात देखिये सम्यग्दर्शन होनेपर मनुष्यको यदि आयु बँधेगी तो देवकी ही बँधेगी। तो जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह चाहे व्रती नहीं है तो भी उत्तम सुखको स्वर्गादिके सुखको प्राप्त करता है।

सम्यक्त्वमें मूढ़ताओंका अभाव सम्यग्दर्शनका निर्दोष होना यह एक बड़ी विभूति है। वहाँ कोई मूढ़ता नहीं रहती। जैसे कि लोग कहते हैं कि फलानी नदीमें नहाओ, पाप धुल जायेंगे, अमुक पहाड़से गिरो, पाप धुल जायेंगे, या अमुक देवी-देवताओंकी मान्यता करो, तुम्हारा कल्याण होगा। इन किन्हीं भी मूढ़ताओंमें ज्ञानी पुरुष नहीं फंसता। उसका तो यह स्पष्ट निर्णय है कि मेरेमें जो होगा वह मेरेमें मेरेसे प्रकट होगा। कोई दूसरी बात दूसरी जगहसे नहीं आती। २५ प्रकारके जो सम्यक्त्वके दोष हैं उनसे जो दूर है वह सम्यग्दृष्टि देवेन्द्र और नरेन्द्रके द्वारा वन्दनीय होता है। अब मूढ़ताओंकी बात देखो दुनियामें धर्मके नामपर कितनी तरहकी मूढ़तायें हैं? सूर्यको अर्घ देना' यद्यपि यह भी कुछ रहस्य रखता है। प्रथम चक्रवर्तीने अपने महलकी छतपर खड़े होकर सूर्यविमानमें जो जिन चैत्यालय है दर्शन किया और उसको निरखकर उसने नमस्कार किया होगा। तब आचार्यने उस उसके प्रथम चक्रवर्तीको मना किया-यद्यपि हे चक्री तुम ठीक करते हो। तुम सूर्यविमानमें चैत्यालयके दर्शन करके नमस्कार करते हो, पर सारी दुनिया यह न समझ सकेगी। वह तो समझेगी कि यह जो चमक रहा है उसे अर्घ देते हैं। सम्भव है कि इसी बातकी प्रथा चली हो, किन्तु आज तो उस चैत्यात्मक ज्ञानानन्दस्वरूप परमात्मतत्त्वका नाम लेकर कोई सूर्यको अर्घ नहीं देता, किन्तु चमक रहा जो विमान है उसे अर्घ चढ़ाते हैं। कोई पुरुष संक्रान्तिके समयमें स्नान आदिकमें धर्म मानते हैं, कोई गाय आदिक वस्तुओंको नमस्कार करते अथवा अनेक प्रकारके वृक्षोंकी पूजा करते; नदी, सागर आदिकमें स्नान करते, कहीं फूलोंका ढेर लगाते, ये सब बातें करते हुए धर्म मानते हैं। ये सब धर्मके सम्बंधकी मूढ़तायें हैं। इन सब बातोंका यदि कुछ विवेकपूर्वक विचार किया जाये तो किसी रहस्यकी बाल मिलेगी। उस रहस्यको न जानकर तो वे धार्मिक क्रियाकाण्ड व्यर्थ हैं।

मूलपरिचयको छोड़कर लोककी गतानुगतिकता जैसे एक कथानक है कि एक बार कोई सज्जन पुरुष (साधु पुरुष) फूल लिये जा रहा था। तो मार्गमें एक जगह किसी कुत्ता आदिककी बीट पड़ी थी, तो उसने सोचा कि इस मार्गसे बहुतसे पुरुष जाते हैं और सभी लोग इस बीटको देखकर नाक सिकोड़ेंगे, तो उस पुरुषने उस बीटको उन फूलोंसे ढाक दिया। अब दूसरे लोगोंने देखा कि देखो इस साधुने बड़े भक्तिभावसे इस जगह फूल चढ़ाया है, यहाँ कोई देव रहता होगा, सो उन लोगोंने भी उस जगह कुछ फूल लाकर चढ़ा दिये। अब क्या था? वहाँसे जो निकले सो ही उसे देवता समझकर फूल चढ़ाये। वहाँ फूलोंका बहुत बड़ा ढेर लग गया। जब बहुत बड़ा ढेर लग गया तो वहाँके मुखिया (गाँवके प्रधान)के मनमें आया कि जरा वहाँ चलकर देखना चाहिए कि कौन देव है, कैसा देव है? उस जगहके सारे फूलोंको उठाया तो नीचे मिला किसी कुत्ता आदिकका विष्टा। तो कुछ घटनायें ऐसी होती हैं कि जो होती तो हैं किसी भलेके लिए मगर पीछे उसका रूप बदल जाता है। एक कथानक

है कि किसी सेठकी लड़कीका विवाह हो रहा था, सो उस समय उसके घर पली हुई बिल्ली घरके अन्दर इधर उधर आती जाती थी। बिल्लीका इधर उधर आना जाना ऐसे मौकेपर लोग असगुन मानते हैं सो सेठने अपने नौकरको बुलाकर एक पिटारेमें उस बिल्लीको बन्द करवा दिया। इस दृश्यको उसके लड़कोने भी देखा। खैर, सेठ तो थोड़े दिनोंमें मर गया, जब उन लड़कोमेंसे किसीकी लड़कीकी शादी होने लगी तो उस समय लड़कोको याद आया कि विवाहमें मुहूर्तके समय पिता जीने एक बिल्ली पकड़ कर पिटारेके अन्दर बन्दकराया था सो लड़कोने उस समय यही कहा ठहरो, अभी एक दस्तूर बाकी रह गया है। देखो हमारे यहाँका दस्तूर चला आया है कि विवाहके मुहूर्तके समय टिपारेके अन्दर बिल्ली बन्दकी जाये, सो जब दो तीन घंटोंमें किसी तरह कोई बिल्ली पकड़कर लायी गई, विवाहका निश्चित मुहूर्त भी निकल गया तब शादी हुई। अरे उस बिल्लीको पिटारेमें बन्द करनेका प्रयोजन क्या था? इस बातको वे भूल गए, इसलिए यह विडम्बना बन गई। तो बहुतसी ऐसी लोकरूढ़ियां हैं जो कि मूल रहस्यको (मौलिक बात को) न समझे जानेसे विडम्बनारूप बन गई। ज्ञानी जीव इन किन्हीं भी मूढ़ताकी बातोंमें नहीं आता है। तो सम्यक्त्व होना और सम्यक्त्वके योग्य अपना व्यवहार होना, और भीतरमें उस स्वरूपका निश्चयस्वरूप रहना यह जीवके लिए कल्याणकारी चीज है।

सम्यग्दृष्टिके संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा व प्रशम गुण सम्यक्त्व जिसके उत्पन्न हुआ है उस जीवके संवेगादिक ८ गुण उत्पन्न होते हैं संवेग, धर्मके साधनोंमें प्रेम होना, धर्मात्माजनोंमें अनुराग होना, धर्मप्रेम। निर्वेद अर्थात् संसार, शरीर, भोगोंसे वैराग्य। सम्यग्दृष्टि जीवकी ऐसी प्रवृत्ति होती है कि उसे धर्मभावमें तो अनुराग जगता है और सांसारिक भोगोंमें वैराग्य उत्पन्न होता है। क्योंकि वह जानता है कि सारभूत बात है तो अपने ज्ञान स्वभावका समझता और इस ज्ञानस्वभावमें अपना ज्ञान बनाये रहना, केवल यही सारभूतबात है। इसके अतिरिक्त जितनी भी अन्य बातें हैं वे सब विडम्बनारूप हैं। अतएव उसका ज्ञानस्वरूपमें प्रेम और बाह्यवस्तुओंसे वैराग्य होता है। सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपमें अपनी निन्दा किया करता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन होनेपर भी जब तक आत्मकल्याण नहीं होता है, रागद्वेष चलता रहे है तो वहां वह अपनी निन्दा करता है। मैं रागी हूं, द्वेषी हूं, मेरेमें इतने अवगुण हैं ये अवगुण मेरे दूर हों तब ही मैं योग्य कहला सकता हूं। उसे अपने अपराधकी अपनेआपमें निन्दा बनी रहती है। और, समय-समयपर अपने गुरुजनोंसे अपने दोषको प्रकट करता है, ज्ञानी दोषोंका पछतावा करता है, हे प्रभो! मुझसे यह अपराध हुआ, मेरेमें अभी बहुत कमजोरी है, अपनी कमजोरीको, अपने अपराधको गुरुजनोंके समक्ष कहता है। सम्यग्दृष्टि जीवमें एक प्रशम गुण उत्पन्न होता है। कोई जीव कैसा ही कुछ कह दे या कैसा ही अपराध करदे तो अपराध करनेपर भी उससे बदला लेनेका भाव नहीं होता। ज्ञानी जीव तो उसके प्रति शान्तभाव ही रखता है। जैसे कि संसारीजन जरासी भी प्रतिकूल बात होनेपर इतनी कमर कसकर तैयार हो जाते हैं उसका बिगाड़ करनेके लिए कि वह रात-दिन बेचैन रहता है। पर सम्यग्दृष्टि जीव जानता है कि संसारमें यह जीव न जाने कौन किस गतिसे आकर यहां पैदा हो गया, थोड़े ही दिनोंमें न जाने कौन किस गतिको चला जायेगा। कोई जीव कैसा ही परिणमनता है परिणमने दो, उसका परिणमन उसमें है, उन जीवोंमें हम किसे अपना विरोधी समझें? क्यो व्यर्थमें किसीसे बदला लेनेका भाव करें? यों ज्ञानी जीव किसीको अपना विरोधी नहीं समझता है।

सम्यग्दृष्टिके भक्ति, दया, वात्सल्य गुण ज्ञानीके देव, शास्त्र, गुरुके प्रति बड़ी उत्तम भक्ति रहती है। पूज्य हैं तो ये वीतराग सर्वज्ञदेव ही पूज्य हैं। यह धर्म जिसमें कि रागद्वेष मोह छोड़नेका उपदेश किया गया है यही धर्म उपादेय है, निर्ग्रन्थ गुरु जिनके अन्तरङ्ग बहिरङ्ग किसी भी प्रकारका परिग्रह नहीं रहता हैं। ज्ञानी पुरुषको

उनके प्रति भक्ति जगती है, अपने प्रति और दूसरे जीवोंके प्रति उसके दयाका भाव उत्पन्न होता है। किसी भी तड़फते हुए पशुको देखकर जो यहाँ कुछ व्यग्रता होती है वह तब ही तो होती है जब यह भाव किया कि इस ही की तरह मैं भी तो जीव हूँ। तो जो लोग दूसरे जीवोंके प्रति दया करते हैं उन्होंने पहिले अपने आत्माको छू लिया है तभी तो दया होती है। तब दूसरे जीवोंकी दया करना भी धर्म है और अपने आपकी दया तो उत्तम धर्म है ही, अर्थात् अपनेको विषयकषायोंसे मिथ्यात्वसे अज्ञान अलग हटाये रहना, यही है अपनी दया। तो सम्यग्दृष्टि जीव स्वच्छया और परदयाकी विशेषता रखता है, ज्ञानी जीवमें वात्सल्य गुण है, धर्मात्मा जनोंसे निष्कपट प्रेम करता है। अभी विवेकपूर्वक देखा जाये तो गृहस्थजनोंके उपकार जितना धर्मात्माजनोंसे हो सकते हैं उतना पुत्र, मित्र, कुटुम्बीजन, रिश्तेदार आदिसे नहीं हो सकते। मूढ़ पुरुषोंके चित्तमें धर्मात्माके प्रति प्रीति न जगेगी, वह उन्हें गैर रूपसे ही समझेगा। ये मेरे घरके नहीं हैं, ये तो गैर हैं। कभी धर्मोंकी भक्ति करते हैं तो रूढ़िवश उनका आदर किया जाता है। मेरे तो ये घरके लोग हैं और इन्हींके बलपर मेरा जीवन है और इसके लिए मेरा सर्वस्व है, पर ज्ञानी जीवको जितना अधिक लगाव धर्मात्माके प्रति होता है उतना अधिक लगाव कुटुम्बके प्रति नहीं होता, और अनेक उदाहरण भी देख लीजिए जहाँ कहीं ज्ञान वैराग्यकी वार्ता मिल सकेगी वहाँ तो इसको शान्ति मिलेगी और जहाँ रागद्वेष मोह बढ़ाने वालीही घटनायें और मिलेंगी वहाँ इस जीवको शान्ति न मिलेगी। तब स्वयं निर्णय कर लो कि धर्मात्मा जनों का संग मेरे लिए हितकारी है या कुटुम्ब आदिकका संग मेरे लिए हितकारी है। लाभ किससे मिलेगा? तो ज्ञानी जीव तो धर्मात्मा जनोंसे ही वात्सल्य रखते हैं।

सम्यग्दृष्टिके अन्तःशान्तिरूपता अनेक गुणोंसे सम्पन्न वह सम्यग्दृष्टि जीव अपने आपमें जब चाहे आनन्द पाता रहता है। जब जरा गर्दन झुकायी देख लो, अपना देव अपने आपके अन्दर है। जिस समय बाह्यदृष्टिको बंद करके अपने अन्तरङ्गकी दृष्टिसे देखेंगे तो अपना भगवान, अपना वह कल्याणकारी देव अपने आपमें मिलेगा। जिसने अपने आपमें बसे हुए इस परमात्मदेवका दर्शन किया है वह पुरुष तो पवित्र है, और जो अपने आपके इस परमात्मदेवका परिचय नहीं कर सकता वह चाहे शरीरकी कितनी ही शुद्धि करे या अन्य प्रकारकी शुद्धि करे तो वह शुद्धि व सिद्धि नहीं है। चाहे अपवित्र हो, चाहे किसी स्थितिमें हो, जो अपने परमात्मतत्वका स्मरण करता है वह बाहरमें भी पवित्र है और अन्तरङ्गमें भी पवित्र है। शान्ति मिलेगी तो अपने आपके परमात्मस्वरूपके उपयोगमें ही मिलेगी। बाहरी पदार्थोंको चित्तमें बसानेसे शान्ति न मिलेगी।

